संगीत
बच्चों के लिये

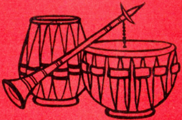

विनयचन्द्र मौद्‌गल्य

संगीत
बच्चों के लिए

विनयचन्द्र मौद्गल्य

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

भाद्रपद 1909 ● सितम्बर 1987

© प्रकाशन विभाग

मूल्य : 5.00

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली–110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई–400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता–700069
- एल० एल० ऑडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास–600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना–800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम–695001
- 10–बी, स्टेशन रोड, लखनऊ–226019
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद–500004

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद ।

आमुख

सान्दर्य के प्रति मानव का आकर्षण स्वाभाविक है। संगीत, ध्वनी-सान्दर्य ही तो है। संगीत मनुष्य की अन्तरात्मा की गहराई में पैठकर उसके संस्कारों को परिमार्जित करता है। कला के कोमलतम एवं मधुरतम रूपों के प्रति आकर्षण का भाव मन में उदात्त भावों को जन्म देता है। संगीत अपने साधारणीकरण की क्षमता द्वारा उपस्थित श्रोता-समूह के हृदयों को एक उच्च-भावभूमि पर जोड़कर उन्हें "एक" बनाता है।

ध्वनियों में सान्दर्य तब आता है, जब वे अनुशासन ग्रहण करती हैं। अनुशासनात्मक ध्वनी ही मूलतः शास्त्रीय-संगीत है। दूसरी ओर अन्तर्मन का सहज उद्घाटन लोक-संगीत है। इसकी लय में भी एक आन्तरिक सहज अनुशासन होता है—सांस लेने, हृदय के धड़कने, पलकों के गिरने या चलते समय बायें पैर के साथ दाहिने हाथ के बढ़ने की तरह एक अनजाना अनुशासन। शास्त्र और लोक—इन्हीं दोनों व्यवस्थित एवं ऊबड़-खाबड़ पाटों के बीच भारतीय संगीत की धारा युगों-युगों से प्रवाहित होती रही है। लेकिन आज पश्चिमी-संस्कृति के प्रभावस्वरूप अतिरिक्त स्वच्छंदता के मोह में हम अपने सांस्कृतिक-अनुशासन को अस्वीकार करते जा रहे हैं। फलस्वरूप हमारा जीवन उच्छश्रृंखलता के एक बंधनहीन वृत्त में गंदे पोखरों की तरह कैद होता जा रहा है। संगीत के क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप संगीत शोर में बदलकर क्षणजीवी होता जा रहा है। आधुनिकता निरन्तर विकास की एक जीवंत प्रक्रिया है, जो परम्परा के विरुद्ध होते हुए भी परम्परा से ऊष्मित एवं स्वयं परम्परा बन जाने को विवश रहती है। संगीत में भी अपनी मिट्टी की गंध और सांसों की धड़कन का समावेश आवश्यक है। अन्यथा जड़विहीन वृक्ष की नियति निर्धारित होती है।

औद्योगिकरण के फलस्वरूप व्यक्ति का भाव-क्षेत्र शुष्क-सा होता जा रहा है। वस्तुतः संगीत उसके अन्तर्मन की मरुभूमि में शीतल जलधार की तरह बहकर उसके तन-मन को रस-प्लावित कर सकता है। इसी विश्वास के फल-

स्वरूप प्रकाशन विभाग श्री विनयचन्द्र मौद्गल्य की यह पुस्तक संगीत-प्रेमी पाठकों के हाथों में सौंप रहा है, ताकि वे संगीत की मूलभूत सामान्य बातों से परिचित हो सकें तथा अपनी संस्कृति की जड़ों के उपयोगी रेशों से जोड़कर जीवन को संगीतमय बना सकें--एक उल्लासपूर्ण समाज की रचना में अपना सहयोग दे सकें। उल्लेखनीय है कि श्री मौद्गल्य पिछले कई वर्षों से संगीत को नये आयाम देने में जुटे हैं तथा संगीत के द्वारा राष्ट्र-निर्माण में भी अपना बहुमूल्य योगदान कर रहे हैं।

--डा. श्याम सिंह शशि
निदेशक

अनुक्रम

1. **संगीत—गंगोत्री से सागर तक** 1

2. **स्वतन्त्र भारत में संगीत** . 9

3. **संगीत की विभिन्न शैलियां :** 11

   शास्त्रीय संगीत तथा सुगम शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, लोक संगीत

4. **संगीत के गीत प्रकार :** 15

   ध्रुपद; धमार; ख्याल; तराना-त्रिवट-चतरंग; सुगम शास्त्रीय संगीत; सुगम संगीत; भजन; गीत; ग़ज़ल; कव्वाली; रवीन्द्र संगीत; लोक गीत

5. **वाद्यों का वर्गीकरण :** 25

   तत वाद्य; रुद्रवीणा; विचित्र वीणा; सितार, सुरबहार, सरोद; संतूर- स्वरमंडल; सारंगी; दिलरुबा; इसराज; रावणहत्था; वायलिन; तंबूरा; वितत वाद्य; पखावज; तबला; घन वाद्य; मंजीरे की जोड़ी; घंटे; घंटियां; झांझ; जल-तरंग; काष्ठ-तरंग; सुषिर वाद्य; बांसुरी; शहनाई; हारमोनियम

6. **संगीत के विविध आयाम :** 36

   संगीत और नाटक; संगीत और सिनेमा; संगीत और कविता; संगीत और चित्रकला; संगीत और चिकित्सा; संगीत और शिक्षा; वृन्दगान; वृन्दवादन ।

संगीत—गंगोत्री से सागर तक

प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत की धारा निरन्तर बहती रही है। समय-समय पर इसमें छोटे-मोटे झरने, नदी-नाले मिलकर एकरूप होते आये हैं। इसीलिए बाह्य कलेवर में अनेक परिवर्तन होने पर भी संगीत की अन्तरात्मा वही रही है। परम्परा को बनाए रखकर भी मौलिक सृजन की क्षमता हमारे संगीत की प्रमुख विशेषता है।

संसार के प्राचीनतम धर्मग्रंथ 'ऋग्वेद' में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल में संगीत के तीन अंग, गायन, वादन तथा नृत्य, सुविकसित रूप में प्रचलित थे। 'ऋग्वेद' में विभिन्न गीत प्रकारों को गीर, गातु, गाथा, गायन, गीति तथा साम आदि नाम दिए गए हैं। वेद की ऋचाएं ही स्वरबद्ध होकर स्तोत्र कहलाती थीं। वैदिक संगीत का महत्वपूर्ण अंग है स्तोभ, जो आजकल गीत की एक ही पंक्ति को अलग-अलग ढंग से अनेक बार प्रस्तुत करने के समान है। वीणा, वाण, तूणव, दुंदुभि, भूदुंदुभि, वेणु, कर्कटि, गर्गर तथा पिंग आदि अनेक वाद्यों का 'ऋग्वेद' में उल्लेख है।

चारों वेदों में 'सामवेद' बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। गीता में स्वयं भगवान कहते हैं कि वेदों में मैं 'सामवेद' हूं। सारा 'सामवेद' संगीतमय है। यह एक विलक्षण बात है कि संगीत के अनेक प्रकार समय-समय पर प्रचार में आने के अलावा लुप्त होते रहे। किन्तु 'सामगान' एक ऐसा प्रकार है, जो हजारों वर्ष बाद भी लगभग उसी पुराने रूप में आज भी सुरक्षित है। समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारियों ने हजारों दुर्लभ ग्रंथ जलाकर नष्ट कर दिए। किन्तु 'सामगान' परम्परा को वे नष्ट नहीं कर पाये। इसका श्रेय उस गुरुकुल परम्परा को है जिसमें गुरु के सिखाए पाठ शिष्य भलीभांति कंठस्थ कर लेता था। वही शिष्य कालांतर में गुरुपद प्राप्त करके अपने शिष्य-प्रशिष्यों को इसी प्रकार प्रशिक्षण देता था। इस प्रकार यह शृंखला आज तक भंग नहीं हो पायी। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश में कुछ ऐसे घराने हैं, जिनमें 'सामगान' आज भी सुरक्षित है।

छांदोग्य उपनिषद् का सम्बन्ध सीधा 'सामवेद' से माना गया है। इस उपनिषद् में 'साम' के विभिन्न प्रकारों का वर्णन है। एक ही ऋचा को अनेक स्वर-रचनाओं में बांधकर गाने का विधान भी है। 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'जैमिनीय ब्राह्मण' दोनों को ही स्वरयुक्त माना गया है। 'सामगान' में सात स्वरों तथा तीन सप्तकों के उपयोग का भी उल्लेख है। गाते समय गान सौन्दर्य बढ़ाने के लिए मूल पाठ के अतिरिक्त अक्षरों का भी उपयोग किया जाता था।

वेद के छः अंगों में 'शिक्षा' का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा ग्रंथों में प्राचीन ध्वनि-विज्ञान से सम्बद्ध निम्न छः अंगों का वर्णन है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान। नारदीय शिक्षा में स्वर, ग्राम, राग, तान आदि का विवेचन है तथा गायक के गुण-दोषों का वर्णन है।

रामायण काल में संगीत के कला-पक्ष तथा शास्त्र-पक्ष का विकास हो चुका था। यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों के समय 'सामगान' का उपयोग होता था। अन्य अवसरों पर गेय-संगीत 'गांधर्व' कहलाता था। 'गांधर्व' में स्वर और शब्द दोनों का महत्व है। निम्न तत्व गांधर्व के लिए आवश्यक माने गए हैं—स्वर, मूर्छना, पाठ्य, स्थान, ताल, लय, प्रमाण, जाति और रस।

इस काल में जाति और राग दोनों प्रचार में आ चुके थे। वीणा, मृदंग, वेणु, पणव, मुरज तथा दुंदुभि आदि वाद्यों का उपयोग किया जाता था। जन-साधारण में प्रचलित लोक-संगीत को 'देशी' कहा गया है। इसमें उनके दैनन्दिन कार्यकलाप, फसल बोना-काटना, चर्खा-चक्की चलाना तथा उत्सवों और पर्वों—पुत्रजन्म, विवाह, वर्षा, वसंत, होली और दीवाली आदि की सुन्दर झांकी दिखायी देती थी।

महाभारत काल में साम, गाथा तथा मंगल गीतियों का प्रचार था। तत, वितत, घन और सुषिर, चारों प्रकार के वाद्यों का उपयोग होता था। शंख, भेरी, पटह, आनक तथा मुरज नामक वाद्य युद्ध के अवसर पर बजाये जाते थे। राजसभाओं में संगीतज्ञ गुणियों को उचित सम्मान प्राप्त था। स्वयं शासक वर्ग भी इस कला में निपुणता प्राप्त करते थे। संगीत और नृत्य में निपुणता के कारण ही एक वर्ष तक 'बृहन्नला' के छद्म रूप में अज्ञातवास करने में अर्जुन को सफलता मिली थी।

पाणिनी के समय में संगीत कला उत्कर्ष पर थी। 'तूर्य' नाम से वृन्दगान प्रचलित था। गायन, वादन तथा नृत्य के कार्यक्रमों का आयोजन आनन्द और मंगल प्रसंगों पर हुआ करता था। इनके लिए उपयुक्त सभा-गृह भी नगरों में थे।

बौद्धकाल में भी समाज में संगीत को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। तक्षशिला, वाराणसी तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में संगीत के अलग विभाग थे, जिनके प्रमुख पदों पर सुयोग्य संगीतज्ञ नियुक्त हुआ करते थे। संगीत को गंधर्व वेद अथवा 'गंधब्ब' कहा जाता था, जिसमें गायन, वादन और नृत्य का समावेश था। इस काल में संगीत को राजाश्रय प्राप्त था। बोधिसत्व स्वयं संगीत और नाट्य कला के मर्मज्ञ थे। उनकी माता तथा परिवार की अन्य महिलाएं भी इन कलाओं में प्रवीण थीं। बुद्ध के जन्मोत्सव पर वृन्दवादन में 500 वाद्यों का समावेश था। निम्न वाद्य इस काल में प्रचलित थे।

तत वाद्य (तार के वाद्य)—वीणा, परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुंबवीणा।

वितत वाद्य (ताल वाद्य)— मृदंग, पणव, भेरी, दिंदिभ तथा दुंदुभि।

घन वाद्य (किसी प्रकार के आघात से बजने वाले)—घंटा, जल्लरी तथा कांस्यताल।

सुषिर वाद्य (फूंक से बजने वाले)—शंख, तूर्य, कुराल तथा शृंग।

जैन धर्मग्रंथों में संगीत सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। स्वर, गीत, वाद्य और मूर्छना आदि का वर्णन उनमें है। विविध प्रकार के अनेक वाद्यों का भी विवरण दिया गया है। पार्श्वनाथ रचित 'संगीत समय सार' संगीत का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है।

स्मृति-काल में वैदिक संगीत के रूप में 'सामगान' का महत्वपूर्ण स्थान था। प्रातःकाल राजा के जागने तथा रात में सोने के समय बजाए जाने वाले चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख स्मृतियों में है। याज्ञवल्क स्मृति में सामगीत, लौकिक संगीत तथा वीणानाद द्वारा उपासना के महत्व का विवेचन है। व्यसनी तथा अशिक्षित लोगों में प्रचलित संगीत के विकृत रूप का निषेध मनु स्मृति में है।

पौराणिक काल में वैदिक तथा लौकिक गान की परम्परा समानांतर रूप से प्रवाहित रही। रामायण, महाभारत तथा लोकगाथाओं का गायन लोक गायक करते थे। 'हरिवंश पुराण' में श्रीकृष्ण को कुशल बांसुरी वादक तथा रास नृत्य का प्रवर्त्तक माना गया है। लोकोत्सवों पर वृन्दगान तथा वृन्दनृत्य का भी वर्णन इसी पुराण में है। 'वायु पुराण' में कहा गया है कि गंधर्व गायन विद्या तथा किन्नर नृत्य में निपुण होते थे। शिव को नृत्य का आचार्य माना गया है। तुंब, वीणा, घंटा तथा मुखादि उनके प्रिय वाद्य हैं। 'मार्कण्डेय पुराण' में हाहा, हूहू, नारद तथा तुंबरु का संगीत के आचार्य के रूप में

उल्लेख है। युद्ध के अवसर पर वीरों को प्रोत्साहन देने के लिए पटह, शंख, मृदंग तथा घंटा आदि वाद्यों के बजाने का विधान है। साम तथा गांधर्व दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व पुराणों में माना गया है ।

महाकवि कालिदास कृत 'कुमारसंभव' में शिव के प्रबोध के लिए कौशिक राग गाने का विधान है । ईसा के प्रारम्भिक काल तक दक्षिण भारत में भी संगीत का विकास हो चुका था । 'सिल्पादिकारम्' तथा अन्य तमिल ग्रंथों में दक्षिण के शुद्ध मेल का वर्णन है। ईसा के 200 वर्ष पूर्व अमरावती तथा ईसा के 200 वर्ष बाद नागार्जुन के स्तूपों पर उकेरे हुए गंधर्व अंकित हैं ।

ईसा से 5000 वर्ष पूर्व के भारतीय संगीत का परिचय मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में हुई खुदाई से मिला है । तांडव नृत्य की मुद्रा में भगवान शंकर तथा नृत्य करती हुई नारी की मूर्ति वहां प्राप्त हुई । ऐसे भी चित्र मिले हैं, जिसमें वीणा का मूल रूप तथा करताल के सदृश वाद्य अंकित हैं । रोपड़ की खुदाई में विविध वाद्यों के चित्रों के अतिरिक्त चार तारों की वीणा बजाती हुई नारी की मूर्ति भी मिली है ।

मौर्य काल को अनेक दृष्टियों से भारतीय संगीत का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस काल में राजा, मन्त्री, तथा राजपुरोहित, सभी के लिए संगीत का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। ऐसी स्वर्ण मुद्रा प्राप्त हुई हैं, जिनमें स्वयं सम्राट समुद्रगुप्त की वीणा बजाते हुए छवि अंकित है। चारण, कुशीलव, तूर्यकार तथा गणिका आदि की नियुक्ति राजसभा के कलाकारों के रूप में होती थी। देवालयों में भी गायक, वादक, नर्तक तथा नर्तकियों की नियुक्ति आवश्यक मानी जाती थी । आजीविका अथवा मनोरंजन हेतु जनसाधारण में संगीत शिक्षा के लिए विशेष शालाएं थीं । कला की दृष्टि से संगीत का ज्ञान सर्वोच्च माना गया था। कौटिल्य के अनुसार संगीत तथा नाट्य कला को राजाश्रय प्राप्त था। पतञ्जलि ने वीणा, तूणव, मृदंग, झर्झर और पिठुर आदि अनेक वाद्यों का उल्लेख किया है। मृदंग की विभिन्न शैलियों का विकास हो चुका था । पतञ्जलि ने इस बात का उल्लेख किया है कि नट रंगभूमि पर गायन भी करता था । प्रत्येक पखवाड़े में स्नेह-सम्मेलनों के रूप में संगीत-समारोह सरस्वती मन्दिर में हुआ करते थे। सभी नागरिक यक्ष रात्रि, कौमुदी जागर तथा सुवस्तंक आदि लोकोत्सवों में उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। गीत, वाद्य, नृत्य, नाटक तथा आख्यायिका आदि का प्रदर्शन इन समारोहों में हुआ करता था ।

शूद्रक के समय में राग गायन आरम्भ हो चुका था। दो प्रकार की वीणा मुख्य रूप से प्रचलित थी। एक दण्ड से बजायी जाती थी, दूसरी नख से। सात छेदों वाली बांसुरी भी प्रचार में थी।

संगीत के आधारभूत ग्रंथों में भरतनाट्य-शास्त्र को निर्विवाद रूप से सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। मूल रूप से इसका सम्बन्ध नाटक से होने पर भी इसके कुछ अध्यायों में संगीत के आधारभूत नियमों की विस्तृत विवेचना है। नाटक में भी संगीत का विशेष महत्व था। मागधी, अर्द्धमागधी, संभाविता, बाईस श्रुति, सात स्वर, षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम तथा प्रत्येक ग्राम की सात-सात मूर्छनाओं का वर्णन भरत ने किया है। भरत का 'शुद्ध सप्तक' लगभग आधुनिक काफी ठाठ जैसा था। किन्तु उसने अन्तर गांधार और काकली निषाद का भी उल्लेख किया है, जो आधुनिक शुद्ध गांधार और शुद्ध निषाद ही है। जाति और जाति-राग का भी विवेचन भरत ने किया है। ध्रुवा-गीतों का विस्तृत वर्णन भी नाट्यशास्त्र में है। स्वर, कविता तथा ताल का सामंजस्य ध्रुवागीत का आवश्यक लक्षण था। इस प्रकार आलापगान, इसके बाद वाद्य तथा अन्त में छंदगान के क्रम का पालन होता था। सामुदायिक वादन को कुतप कहा गया है। तार के तथा फूंक से बजाने वाले वाद्यों के वृन्दवादन को तत कुतप तथा मृदंग, पणव तथा दर्दुर आदि ताल वाद्यों के इकट्ठा बजाने को अवनद्ध कुतप का नाम दिया गया था। भरत ने बार-बार संगीत के आद्य प्रचारक के रूप में नारद का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है। भरत ने कहा है कि नाट्यशास्त्र में संगीत का वर्णन नारद के अनुसार ही है तुंबरु की गणना उन्होंने दिव्य गंधर्वों में की है। नाट्यशास्त्र में संगीत का वर्णन नारद के अनुसार है, यह भरत का दावा है।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीय संस्कृति का प्रचार मध्य एशिया से लेकर सुदूर पूर्व के हिंदचीन, जावा तथा कंबोज आदि देशों में भी हो गया था। आज भी इनमें से अनेक देशों में रामायण पर आधारित नृत्य-नाटिकाओं की परम्परा है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ ने हर्ष-वर्धन के राज्य में नृत्य और संगीत की उत्तम स्थिति का वर्णन किया है।

दक्षिण भारत में कांचीपुरम् के पल्लव राजाओं के समय में मूर्ति कला और चित्र कला के साथ ही संगीत की भी विशेष उन्नति हुई। चोल और चालुक्य वंश के शासनकाल में दरबारों और मन्दिरों में नृत्य व गायन को विशिष्ट स्थान प्राप्त था।

11वीं से 13वीं शताब्दी तक भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होते रहे।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में गोपाल नायक तथा अन्य अनेक संगीतज्ञों को दक्षिण भारत से उत्तर भारत में लाया गया। बादशाह स्वयं संगीत-प्रेमी होने के नाते संगीतकारों को पूर्ण सम्मान देता था। अमीर खुसरो भी उसी के दरबार में थे। अनेक वाद्यों, रागों, तालों और गीत प्रकारों के आविष्कार का श्रेय उन्हें दिया जाता है।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (1486–1516 ई०) स्वयं एक महान संगीतज्ञ थे। कलाकारों और गुणीजनों का वह विशेष सम्मान करते थे। 'ध्रुवा' गीति पर आधारित 'ध्रुपद' के विकास और परिष्कार में राजा मानसिंह का विशेष योगदान रहा है। सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू उन्हीं के आश्रय में थे। उनकी प्रिय रानी मृगनयनी को संगीत शिक्षा देने के अलावा राज्य द्वारा संचालित संगीतशाला में भी वह अध्यापन करते थे। भारतीय संगीत की तत्कालीन समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर विद्वज्जनों की विचार गोष्ठियों के आयोजन का श्रेय भी राजा मानसिंह को है।

भारतीय संगीत के सर्वमान्य गुरु स्वामी हरिदास उस समय के श्रेष्ठतम ध्रुपद गायक थे। बैजू और तानसेन आदि अनेक उच्चकोटि के संगीतकार उन्हीं के शिष्य थे। स्वामीजी के भक्तिसंगीत-प्रधान ध्रुपद गायन की परम्परा आज तक धर्म मन्दिरों में हवेली-संगीत के रूप में चलती आयी है।

संगीतप्रेमी मुगल सम्राट अकबर ने तानसेन को अपने दरबार के नवरत्नों में गौरवपूर्ण स्थान दिया। तानसेन ने अनेक ध्रुपदों की रचना की तथा परम्परागत रागों के आधार पर नए रागों का भी निर्माण किया। दरबारी कानड़ा, मियां की मल्हार, मियां की तोड़ी तथा मियां की सारंग आदि उनके राग आज भी प्रचार में हैं। ध्रुपद पर आधारित ख्याल गायकी को परिपक्व रूप देने का श्रेय जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की को है। बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के समय सदारंग और अदारंग ने हजारों ख्यालों की रचना की, तथापि ध्रुपद के अतिरिक्त और कुछ गाना अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप न मानकर वे अपने शिष्यों से ही ख्याल गवाते थे। मुगल बादशाहों के शासनकाल में तकनीकी दृष्टि से संगीत का बहुमुखी विकास हुआ। ख्याल तथा तराना आदि गीत प्रकारों का आविष्कार हुआ। अनेक नये राग और ताल प्रचार में आये। प्राचीन वाद्यों के आधार पर सितार, सरोद, सारंगी, तबला आदि अनेक वाद्य भी इसी काल में विकसित हुए। किन्तु दरबारों के विलासितापूर्ण वातावरण में भारतीय संगीत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का लोप हो गया। राजाश्रय में रहने के कारण निश्चित होकर कला की साधना में वे कलाकार

निमग्न रहते थे । किसी प्रकार की ग्रंथाधारित या लिखित परम्परा के अभाव में भी इस अनमोल थाती की रक्षा का श्रेय उन्हें है। किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश उस्ताद अपने पुत्र या निकट सम्बन्धी के अतिरिक्त किसी अन्य को विद्या देने में संकोच करते थे । साथ ही अशिक्षित और व्यसनी होने के कारण संगीतकार सभ्य समाज से कट कर रह गये थे

मुगलकाल से ही अंग्रेजों ने व्यापारी के रूप में भारत में प्रवेश किया। कालांतर में सारा भारत उनके अधिकार में आ गया। चिरकाल तक इस देश पर आधिपत्य रखने के उद्देश्य से उन्होंने एक ऐसी शिक्षापद्धति का प्रवर्तन किया, जिसमें शिक्षित व्यक्ति अपने देश, धर्म, दर्शन, संस्कृति, भाषा, वेश-भूषा सभी से विमुख हो जाए। 1857 के स्वाधीनता संग्राम की असफलता के बाद लम्बे समय तक देश भर में गहरी निराशा का वातावरण छाया रहा। 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ में एक नई चेतना का सूत्रपात हुआ । संगीत के क्षेत्र में इस पुनर्जागरण का विशेष श्रेय स्वर्गीय पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा स्वर्गीय पं० विष्णु नारायण भातखण्डे को है। 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'—यह मूल मन्त्र भारतीयों को लोकमान्य तिलक ने दिया था। इसी प्रकार संगीत केवल गिने-चुने सुविधा-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए नहीं, बल्कि अपनी-अपनी क्षमता और विशिष्ट परिस्थिति के अनुसार संगीत सीखने और सुनने का अधिकार सभी को है—यह प्रेरणा देने वाले युगद्रष्टा महापुरुष थे—पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर। महलों और दरबारों के विलासितापूर्ण वातावरण से मुक्त कर, उन्होंने संगीत का सच्चे अर्थ में जनतंत्रीकरण किया। सभ्य समाज में संगीत के प्रति व्याप्त उपेक्षा और अनादर की भावना का निराकरण करने के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया। स्वयं मराठी भाषी होते हुए राष्ट्रभाषा के भक्त होने के नाते, उन्होंने पचास से ऊपर अपने सभी ग्रंथ हिन्दी में ही प्रकाशित किए ।

1901 में लाहौर (अब पाकिस्तान) में उनके द्वारा गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना संगीत क्षेत्र में एक महान क्रांतिकारी कदम था। प्राचीन गुरुकुल प्रणाली तथा आधुनिक सामुदायिक शिक्षा पद्धति का समन्वय इस संस्था में था । हजारों प्रबुद्ध श्रोता, सैकड़ों सुयोग्य, सच्चरित्र संगीत शिक्षक तथा पं० ओंकार नाथ ठाकुर, प० विनायक राव पटवर्धन तथा पं० नारायण राव व्यास जैसे उच्च कोटि के कलाकार भी इस संस्था की देन हैं।

इन दिनों संगीत के क्षेत्र में कला शास्त्र से कटकर रह गयी थी। इन दोनों के समन्वय के लिए संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान पं० विष्णु नारायण भातखण्डे का रहा है। संस्कृत तथा अन्य अनेक भाषाओं में उपलब्ध संगीत सम्बन्धी ग्रंथों का अध्ययन करने के बाद उन्होंने 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' लिख कर, उसे चार भागों में प्रकाशित किया। देश भर में घूमकर उन्होंने विभिन्न संगीतकारों से हजारों परम्परागत संगीत रचनाएं प्राप्त कीं तथा उन्हें क्रमिक पुस्तकमाला (चार भाग) के रूप में प्रकाशित किया। लखनऊ के मौरिस म्यूज़िक कालेज (अब भातखण्डे संगीत महाविद्यालय), ग्वालियर के माधव संगीत महाविद्यालय तथा बड़ौदा के राजकीय संगीत विद्यालय की स्थापना का श्रेय भी उन्हीं को है। संगीत की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों का आरम्भ उन्होंने किया।

आज देश में कई जगहों पर स्थापित संगीत संस्थाओं में हजारों छात्र इस कला का अध्ययन कर रहे हैं। प्रारम्भिक से लेकर स्नातकोत्तर एवं डॉक्टर स्तर तक शिक्षाक्रम में संगीत का समावेश हो चुका है। अनेक विश्वविद्यालय भी अनेक स्थानों पर कार्यरत हैं। इसका अधिकांश श्रेय निःसंदेह दोनों विष्णुओं—पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा पं० विष्णु नारायण भातखण्डे—को दिया जाना उचित है।

स्वतंत्र भारत में संगीत

1947 में भारत अंग्रेजी दासता से मुक्त हुआ। स्वतन्त्र भारत की सरकार द्वारा भारत की अनमोल सांस्कृतिक थाती संगीत की उन्नति और प्रचार को पूरा प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था। संगीत नाटक अकादमी की स्थापना इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत तथा लोक संगीत का प्रसारण, संगीत के पाठ, सोदाहरण भाषण तथा विचार गोष्ठियों का आयोजन, अखिल भारतीय संगीत कार्यक्रमों का प्रसारण, संगीत सम्मेलन तथा नई प्रतिभाओं की खोज के लिए संगीत प्रतियोगिताओं का आयोजन—इन अनेक गतिविधियों के रूप में आकाशवाणी द्वारा संगीत के प्रचार और प्रसार का कार्य व्यापक रूप में हुआ है। आकाशवाणी के अतिरिक्त दूरदर्शन का भी योगदान महत्वपूर्ण है। सुनने के अतिरिक्त घर बैठे अपने मनचाहे कलाकार को प्रत्यक्ष देख पाने की भी सुविधा रसिकों को दूरदर्शन द्वारा प्राप्त हुई ।

आज न केवल अपने देश में बल्कि विश्व भर में भारतीय संगीत को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। सम्भवत: भारतीय संगीत सुनने-समझने का सुअवसर यूरोप को तब प्राप्त हुआ जब 1933 में पं० ओंकारनाथ ठाकुर ने फ्रांस, इटली, बेल्जियम, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों का दौरा किया। इससे पहले यह बात वहां के अधिकांश संगीतज्ञों और संगीत-प्रेमियों की कल्पना से परे थी कि भारतीय संगीत इतना समृद्ध तथा सुविकसित है। कहा जाता है कि इटली का तानाशाह मुसोलिनी पंडितजी का गान सुनकर मुग्ध हो गया था। उदय शंकर की नृत्यमंडली की यूरोप और अमरीका यात्रा से नृत्य के अतिरिक्त अनेक भारतीय वाद्यों—सरोद, बांसुरी, सितार, इसराज, तबला, पखावज, खोल आदि को सुनने का मौका वहां के संगीत-प्रेमियों को मिला। विष्णुदास शिराली इस मण्डली के संगीत निर्देशक थे। अन्य कलाकारों के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अलाउद्दीन खां भी इस मण्डली में सम्मिलित थे। विदेशों में भारतीय संगीत के प्रचार-प्रसार का विशेष श्रेय उनके शिष्य पं० रविशंकर को है। उस्ताद विलायत खां का सितारवादन भी वहां विशेष

लोकप्रिय हुआ है। आजकल अनेक गायक-वादक प्रतिवर्ष विदेश जाकर संगीत के कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। लास एंजिल्स (अमरीका) में उस्ताद अली अकबर खां द्वारा स्थापित संगीत विद्यालय में उनके निर्देशन में संगीत शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् की ओर से विभिन्न देशों के सांस्कृतिक केन्द्रों में संगीत शिक्षा की व्यवस्था की गयी है।

संगीत की विभिन्न शैलियां

आधुनिक समय में देश में प्रचलित संगीत को मोटे तौर पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है :

1. **शास्त्रीय संगीत तथा सुगम शास्त्रीय संगीत**
2. **सुगम संगीत**
3. **लोक संगीत**

आरम्भ में समस्त भारत में एक ही प्रकार का शास्त्रीय संगीत प्रचलित था। कालांतर में इसका विकास दो अलग-अलग धाराओं के रूप में हुआ। कर्नाटक संगीत पद्धति का विकास और प्रचार भारत के दक्षिण भाग में हुआ। देश के अन्य सभी भागों—पूर्व-पश्चिम-उत्तर तथा मध्य में शास्त्रीय संगीत की हिन्दुस्तानी पद्धति प्रचलित है। भारत के पड़ोसी देशों—पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश तथा अफगानिस्तान में भी शास्त्रीय संगीत के रूप में यही पद्धति मान्य है।

दोनों पद्धतियों के आधारभूत नियम भी एक ही हैं। सात मुख्य स्वर तथा बाईस श्रुति (सूक्ष्म नाद) दोनों में मानी गयी हैं। राग और ताल के महत्वपूर्ण तत्व केवल इन्हीं दोनों पद्धतियों में अनिवार्य रूप से आवश्यक माने गए हैं। 13वीं सदी में शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' को दोनों पद्धतियों में आधार ग्रथ माना जाता है। क्रमशः अनेक कारणों से दोनों का विकास पृथक् रूप से होता गया। आज दोनों ही पूर्ण रूप से सुविकसित हैं। इसलिए इन दोनों को फिर से मिलाकर एक कर देना न तो संभव है न अभीष्ट, तथापि आधुनिक युग में पारस्परिक निकट सम्पर्क के कारण दोनों में किसी-न-किसी प्रकार का पारस्परिक आदान-प्रदान स्वाभाविक रूप से चल रहा है। अनेक दक्षिण के राग हिन्दुस्तानी संगीत में तथा हिन्दुस्तानी पद्धति के राग कर्नाटक पद्धति में अपना लिये गए हैं, जबकि वे ही राग और ताल अलग नाम से दोनों पद्धतियों में प्रचलित हैं। यहां हम हिन्दुस्तानी पद्धति के सम्बन्ध में ही विवेचन करेंगे।

'नाद' और 'लय' के माध्यम से हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति

ही संगीत है। गायन, वादन और नृत्य का समावेश इस कला में होता है। किन्तु जैसा नाम से ही स्पष्ट है (सम्=सम्यक् रीति से, ठीक ढंग से, नियमों के अनुसार+गीत=गायन) इनमें गायन मुख्य है। गीत के रूप में कविता का भी संगीत से निकट सम्बन्ध है। किन्तु शास्त्रीय संगीत में कविता का महत्व नाद और लय की अपेक्षा बहुत कम है। इसीलिए इसमें कविता बहुत संक्षिप्त रहती है। एक-दो मिनट की अवधि में पढ़ी जा सकने वाली कविता को शास्त्रीय सगीत का कलाकार नाद और लय के प्रस्तार द्वारा घंटा भर तक गाकर रसिक श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर सकता है। वास्तव में जिन सूक्ष्म भावनाओं को प्रकट करने में साधारण भाषा असमर्थ रहती है, उन्हें भी नाद के द्वारा कुशलता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। जहां साधारण भाषा रुक जाती है, उससे आगे नाद की भाषा आरम्भ होती है।

कानों से सुनी जा सकने वाली हर प्रकार की आवाज को ध्वनि कहते हैं। इनमें से सुनने में मधुर प्रतीत होने वाली संगीतोपयोगी मधुर ध्वनि को ही नाद कहा जाता है। नाद असंख्य हैं। इनमें से संगीतोपयोगी सात प्रमुख नादों को स्वर कहा गया है। स्वरों के नाम हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनके संक्षिप्त प्रचलित नाम हैं—सा, रे, ग, म, प, ध और नि। इनमें से चार (रे, ग, ध और नि) अपने स्थान से कुछ नीचे होने पर कोमल कहलाते हैं: 'म' अपने स्थान से हटकर थोड़ा ऊंचा होने पर तीव्र कहलाता है। षड्ज और पंचम अपने स्थान से ऊपर या नीचे नहीं होते, इसीलिए उन्हें 'अचल' कहा गया है। कान से सुनकर पहचाने जा सकने वाले संगीतोपयोगी सूक्ष्म नादों को 'श्रुति' कहते हैं। श्रुतियों की संख्या बाईस मानी गई है।

भारतीय संगीत में राग का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। रंजकता अर्थात् मन को प्रसन्न करने की क्षमता राग का सबसे आवश्यक गुण है। कम-से-कम पांच-छह और सातों स्वर लेकर कोमल, तीव्र आदि का अन्तर करके तथा किन्हीं स्वरों के उपयोग को घटा-बढ़ाकर असंख्य राग गणित के आधार पर बन सकते हैं। किन्तु रंजकता के नियम के आधार पर रागों की संख्या मर्यादित रह जाती है। विशिष्ट मधुर स्वर–रचना को राग कहते हैं। विशिष्ट से अभिप्राय है निश्चित अर्थात् पहले से निश्चित स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों का उपयोग राग में नहीं किया जाता। ऊपर चढ़ते हुए तथा नीचे उतरते क्रम में कौन-से स्वर, शुद्ध-कोमल-तीव्र किस रूप में, किस परिमाण में उपयोग किए जाएं, इन नियमों का पालन राग के लिए आवश्यक है। विशिष्ट

भ:व भिव्यक्ति के लिए हमारे संगीत में अलग-अलग राग हैं। जैसे भक्ति के लिए 'भैरव', करुणा के लिए 'तोड़ी', शृंगार के लिए 'खमाज', वीर के लिए 'शंकरा' आदि। रागों को निश्चित समय या निश्चित ऋतु में गाने की परम्परा है। उदाहरण के लिए— प्रातःकाल में 'भैरव' या 'रामकली', दोपहर को 'सारंग', मध्याह्न के बाद 'मुलतानी', सूर्यास्त के समय 'श्री', मध्य रात्रि में 'मालकौंस' तथा रात के अन्तिम प्रहर में 'ललित', वसंत ऋतु में 'वसंत' और 'बहार' तथा वर्षा में 'मेघ' और 'मल्हार' गाये जाते हैं।

राग की तरह 'ताल' का भी हमारे संगीत में विशेष महत्व है। कविता में जो स्थान छंद का है वही संगीत में ताल का। संगीत में समय के हिसाब को ताल कहते हैं। जैसे निश्चित स्वरों की रचना राग है, उसी प्रकार निश्चित मात्राओं (मात्रा—ताल की सबसे छोटी इकाई है) की रचना ताल है। मात्राओं की संख्या तथा उनके विभाजन के आधार पर अलग-अलग तालों की रचना हुई है। ताल की बहुत धीमी गति को 'विलम्बित लय' तथा तेज गति को 'द्रुत लय' कहते हैं, जबकि बीच की लय 'मध्य लय' कहलाती है। मध्य लय में एक मात्रा की अवधि साधारण तौर पर एक सेकण्ड मानी गयी है। राग की भ ति ताल तथा लय भी विभिन्न प्रकार की भावनाओं के लिए पोषक या विघातक होते हैं। उदाहरण के लिए 12 मात्रा का विलम्बित लय का चार-ताल गंभीर प्रकृति की रचना के लिए अनुकूल होगा। इसी प्रकार द्रुत लय में छह मात्रा का दादरा-ताल चंचल भावनाओं के लिए पोषक होगा। विलम्बित लय करुण रस के लिए, मध्य लय संयोग-शृंगार के लिए तथा द्रुत लय वीर-रस के लिए अनुकूल है।

आलाप

शास्त्रीय संगीत का कलाकार आरम्भ में धीमी लय में राग में लगने वाले स्वरों का प्रस्तार करता है। कुछ गीत-प्रकारों में यह प्रस्तार आकार के रूप में होता है तथा कुछ में कानों को मधुर लगने वाले 'नोम् तोम् तनन' आदि वर्णों के रूप में। 'ओम् अनन्त हरि नारायण' जैसे शब्दों के रूप में प्राचीन काल में ध्रुपद शैली में आलाप गायन की प्रथा थी। आजकल भी अनेक गायक इसी परम्परा का पालन करते हैं। आलाप में 'गमक' का विशेष महत्व है। आकर्षक और विशिष्ट भावना के अनुकूल बनाने के लिए किसी स्वर को एक या एक से अधिक स्वरों की सहायता से हिला-डुलाकर, झुलाकर, सजाकर या संवारकर गाने या बजाने को गमक कहते हैं। ध्रुपद

शैली में आकार के स्थान पर 'नोम् तोम्' का आलाप ताल के साथ गीत प्रारम्भ होने से पहले ही किया जाता है। ख्याल शैली में प्रारम्भिक आलाप संक्षिप्त होता है। गीत के साथ जोड़कर आकार में या गीत के बोलों के आधार पर तालबद्ध आलाप ख्याल शैली में लिये जाते हैं।

बोल-तान

गीत के शब्दों को अलग स्वरों या अलग-अलग लय-प्रकारों (दुगुन, डेढ़गुन आदि) में पिरोकर गाने को बोल-तान कहते हैं । बोल-तान के कई प्रकार हैं। गीत के शब्दों को आलाप में पिरोकर गाने को आलाप की बोल-तान या बोल आलाप कहते हैं। दुगुन-तिगुन आदि अलग-अलग लयकारियों में गीत के शब्दों को गाना लयकारी की बोल-तान है। गीत के शब्दों को द्रुत लय में गाये गए स्वरों अर्थात् तान में पिरोकर गाना ही तान की बोल-तान है।

तान

द्रुत लय में राग के स्वरों के प्रस्तार को तान कहते हैं। गायन में प्राय: यह आकार के रूप में तथा कभी-कभी इकारादि के रूप में होता है। राग-गायन को अधिक रोचक तथा वैचित्र्यपूर्ण बनाने के लिए तान बहुत सहायक होती है। एक प्रकार से तान का अर्थ है--थोड़े में ज्यादा कहने का प्रयास । तान लेते समय तेज-से-तेज लय में भी अस्पष्टता, बेसुरापन और कर्कशता न आने पाए, इसी में कलाकार की कुशलता मानी जाती है । प्राय: गायन का समापन तान के साथ होता है ।

सरगम

राग में लगने वाले स्वरों के संक्षिप्त नामों (सा, रे, ग, म आदि) को आलाप तान के रूप में गाना भी कुछ समय से प्रचार में आ गया है। गायन में वैचित्र्य लाने में यह उपयोगी है ।

शास्त्रीय संगीत के गीत-प्रकार

ध्रुपद

शास्त्रीय संगीत के सभी गीत-प्रकारों में सबसे प्रतिष्ठित तथा प्राचीन ध्रुपद है। प्राचीन 'ध्रुवा' प्रबन्ध के आधार पर इसका विकास हुआ। यह गम्भीर प्रकृति का ओजस्वी प्रकार है। इसके चार तुक या भाग होते हैं — स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग। इसकी संगति के लिए पखावज नामक तालवाद्य का उपयोग होता है। चारताल, सूलताल तथा तेवरा आदि तालों में ध्रुपद गाया जाता है। 'नोम्–तोम्' आदि अक्षरों द्वारा आलाप लिये जाते हैं। ताल के साथ गीत के चारों भाग गाकर अलग-अलग लयकारियों में बोल-तान ली जाती है, जिन्हें बोल-बांट भी कहते हैं। इस गीत-प्रकार में तान बिल्कुल नहीं ली जाती। जौनपुरी राग में चिंतामणि रचित ध्रुपद इस प्रकार है :

चन्द्रमा भाल विराजत बंधन लसत ।
अंग शुभ शुभग राजत एक दंत ।।
विघ्न-हरन अष्टसिद्धि नवनिधि दायक ।
गणनायक देव इडाको कंथ ।।
लम्बोदर गिरिजासुत ।
अभयकरत शुंड दंत मूसक वाहन कुमति हंत ।
चिंतामणि एक खंजन ।
चिदानंद छेद रूप वेद गुन गावत ।
पावत न पार जाको आदि अंत ।

धमार

ध्रुपद से मिलता-जुलता ही प्रकार है धमार। इसकी प्रकृति अपेक्षाकृत चंचल है तथा इस गीत के दो भाग होते हैं—स्थायी तथा अंतरा। प्रायः इसमें होली खेलने का वर्णन रहता है तथा यह सदा धमार ताल में ही गाया जाता है। ध्रुपद की तरह इसमें भी ताल सहित गीत प्रारम्भ होने से पहले नोम्-तोम् के आलाप लिये जाते हैं। बाद में लयकारी की बोल-तान ली जाती

है तथा तानों का उपयोग नहीं होता। छायानट राग में एक धमार गीत इस प्रकार है :

अब मोसे खेलन लागे होरी।
श्याम सुंदर करत हो बर-जोरी।
अबीर उड़ावत गारी गावत।
मुख मल दई है रोरी।

उस्ताद अल्लाह बन्दे खां, पं० चंदन चौबे तथा उस्ताद नसीरुद्दीन खां प्रख्यात ध्रुपद गायक थे। आजकल पं० राम चतुर मलिक, पं० सियाराम तिवारी तथा डागरबन्धु इस शैली के प्रमुख कलाकार हैं।

ख्याल

वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत के गीत-प्रकारों में ख्याल सबसे अधिक लोकप्रिय है। ध्रुपद के स्वरूप में जब एक प्रकार की विकृति तथा जड़ता आ गयी थी, ताल और लय की पेचीदगी में फंसकर जब पखावजी को हरा देना ही कलाकार की सफलता का प्रमाण माना जाने लगा, तभी ख्याल का जन्म हुआ। ध्रुपद के आधार पर ही ध्रुपद गायकी के आवश्यक अंग आलाप और बोल-बांट के साथ इसमें तान का भी समावेश हुआ। कलाकार को अपनी कल्पना के अनुसार विस्तार करने की अधिक स्वतन्त्रता इस शैली में रहने के कारण ही सम्भवतः इसको ख्याल (ख्याल-कल्पना, विचार) कहा गया। गम्भीर प्रकृति का होने के कारण जहां ध्रुपद भक्ति तथा वीर रस के लिए अनुकूल था वहां शृंगार, करुणा, वात्सल्य आदि भावनाओं को भी अभिव्यक्त करने की अधिक क्षमता ख्याल में है। 'ख्याल' शब्द फारसी भाषा का होने के कारण एक भ्रांति प्रचलित हो गयी है कि यह शैली विदेशी है या विदेशी प्रभाव से युक्त है। वास्तव में भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में इससे मिलती-जुलती शैली न पहले कभी प्रचलित थी, न आज है।

ख्याल-गायन का भी आरम्भ आलाप से होता है, किन्तु ये आलाप संक्षिप्त होते हैं तथा नोम्-तोम् के रूप में न होकर राग का वातावरण निर्माण करने के लिए आकार के रूप में लिये जाते हैं। इस शैली में पखावज के स्थान पर तबले का उपयोग तालवाद्य के रूप में किया जाता है। विस्तृत रूप में आलाप गीत के साथ आकार या बोल आलाप के रूप में लिये जाते हैं। ख्याल के दो प्रकार हैं—1. विलंबित ख्याल जिसे बड़ा ख्याल भी कहा जाता है। इसकी गति विलंबित रहने के कारण यह आलाप गायन के लिए विशेष रूप से अनुकूल है। तिलवाड़ा, झूमरा तथा एकताल आदि तालों का उपयोग

संगति के लिए होता है। बिहाग राग में सदारंग रचित एक विलम्बित ख्याल के बोल हैं :

कैसे सुख सोवे नींदरिया
श्याम मूरत चित चढ़ी ।
सोच-सोच 'सदारंग' अकुलावे
या बिध गांठ परी ।

विलम्बित ख्याल के बाद उसी राग में मध्य या द्रुत लय के ख्याल गाने की प्रथा है। इनमें लययुक्त तथा तानयुक्त बोल-तानों के साथ आकार के रूप में ली गयी तानों की प्रधानता रहती है। साधारण श्रोताओं के लिए ये अधिक रंजक होते हैं। तीन ताल, द्रुत एक-ताल तथा रूपक आदि तालों में ये गाये जाते हैं। कभी-कभी कलाकार विलम्बित के स्थान पर केवल मध्य लय का ख्याल ही गाते हैं। बहार राग में निबद्ध एक पारम्परिक द्रुत ख्याल के बोल हैं :

कलियन संग करता रंगरलियां
भंवर गुंजारे फूली फुलवारी
चहूं ओर मोर बोले
कोयल की कूक सुनि हूक उठी ।।
लहर-लहर लहरात सब बिरछन मौरीले ।
नार गडवा भरन आई
आज बाग में पुकारे
कीनीवाले राम बोले हर बार-बार ।।

दिवंगत गायकों में पं० भास्कर राव बखले, उस्ताद फैयाज खां, श्रीमती ताराबाई शिरोडकर, केसरबाई, पं० ओम्कार नाथ ठाकुर, पं० विनायक राव पटवर्धन, उस्ताद रहमत खां, उस्ताद अब्दुल करीम खां तथा उस्ताद गुलाम अली खां का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक कलाकारों में उस्ताद निसार हुसैन खां, पं० दिलीप चंद्र बेदी, श्रीमती हीराबाई बड़ोदकर, पं० कुमार गंधर्व, श्री भीमसेन जोशी, पं० जसराज व श्रीमती गंगूबाई का नाम आता है ।

तराना-त्रिवट-चतरंग

दीं, तों, दिर-दिर, यललि आदि निरर्थक वर्णों की राग और ताल में बंधी रचना को 'तराना' कहते हैं। विलम्बित और द्रुत ख्याल के बाद तथा कभी-कभी विलम्बित के तुरन्त बाद तराना गाया जाता है। तराने में गले की चमत्कार-पूर्ण तैयारी दिखाकर श्रोताओं को विमुग्ध करने की विशेष संभावना रहती है। इसलिए इसे प्राय: अति द्रुत लय में गाया जाता है। इसमें

दंत्य वर्णों का अधिक उपयोग होता है जो स्वाभाविक रूप से मधुर होते हैं। विलम्बित लय में गाये जाने वाले तराने को 'ख्यालनामा' कहते हैं, किन्तु इसका प्रचलन नहीं के बराबर है।

तराना से मिलते-जुलते अन्य प्रकार भी हैं। एक है त्रिवट जो तबले या पखावज पर बजने वाले बोलों की राग और तालबद्ध रचना है। दूसरा प्रकार है---चतरंग, जिसके चार अंग माने गए हैं—

कविता, तराना या तबले के बोल, सरगम तथा संस्कृत या फारसी भाषा की किसी कविता का अंश। तराना, त्रिवट या चतरंग आदि प्रकार विविध भावाभिव्यक्ति के लिए विशेष उपयुक्त नहीं हैं। अधिक-से-अधिक अद्भुत रस की सृष्टि इसके द्वारा की जा सकती है। स्वर्गीय पं० विनायक राव पटवर्धन तथा उस्ताद निसार हुसैन खां तराना गायन के लिए विख्यात हैं।

सुगम शास्त्रीय संगीत

शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा सुगम शास्त्रीय संगीत में भावपक्ष को अधिक महत्व दिया जाता है। भावाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक हो तो राग नियम को भी शिथिल करने की अनुमति कलाकारों को प्राप्त है। इस शैली के निम्न प्रकार प्रचार में हैं—

ठुमरी, टप्पा, दादरा

सुगम शास्त्रीय संगीत का सबसे प्रमुख गीत-प्रकार ठुमरी है। शृंगारिक भावनाओं के लिए यह विशेष उपयुक्त मानी गयी है। गीत के बोलों को आलाप या तान में पिरोकर आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाना इसकी विशेषता है। स्वतन्त्र रूप से गम्भीर गमकों से युक्त आलाप और तान का इसमें स्थान नहीं है। गीत के बोलों को बार-बार, अलग-अलग ढंग से आकर्षक स्वरावलि में गूंथकर भावानुकूल रूप में पेश करना ठुमरी की विशेषता है। इसे ही बोल-बनाव कहते हैं।

प्राय: ठुमरी दीपचंदी या अद्धा में तथा कभी-कभी दादरा और कहरवा आदि तालों में भी गायी जाती है। अपेक्षाकृत चंचल गति में गायी जाने वाली ठुमरी को बंदिश की ठुमरी कहते हैं। यह द्रुत या मध्य लय में गाये जाने वाले ख्याल के बहुत निकट है तथा गाने का ढंग भी इससे मिलता-जुलता है। कभी-कभी उन्हीं रचनाओं को कोई गायक ख्याल के रूप में तथा कोई बंदिश की ठुमरी रूप में पेश करते हैं। दीपचंदी ताल में निबद्ध भैरवी

में गायी जाने वाली एक लोकप्रिय ठुमरी के बोल इस प्रकार हैं :

सांवरिया ! अब न सहौंगी । बहुत सही तोरी गारी ।
जाय कहौंगी नंदराय सों तुरतहि देय निकारी ।।

ठुमरी से ही मिलता-जुलता टप्पा है। इसकी विशेषता गीत के बोलों का अति द्रुत तथा क्लिष्ट तानों में पिरोना है। टप्पे प्रायः पंजाबी भाषा में हैं। 'शोरी मियां' कृत एक टप्पे के बोल हैं :

दिल ले जांदा वे मियां
चीर वाले जुल्फां वाले ।
शोरी गले विच मोतियां दी माला
कान विच सोहे बुंदां वाले ।

टप्पा के अतिरिक्त दादरा शैली भी बहुत कुछ ठुमरी जैसी ही है। इसकी गति अपेक्षाकृत चंचल रहती है और इसके गीत प्रायः दादरा या कभी-कभी कहरवा में निबद्ध रहते हैं।

श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, श्रीमती रसूलन बाई तथा बेग़म अख्तर लोकप्रिय ठुमरी गायिका थीं। आजकल इस शैली के प्रमुख कलाकार हैं—पं० महादेव मिश्र, श्रीमती गिरिजा देवी, श्रीमती नैना देवी तथा श्रीमती शोभा गुर्टू ।

सुगम संगीत

सुगम संगीत में नाद और लय के प्रस्तार अर्थात् आलाप-तान आदि की तुलना में कविता का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। आकर्षक और भावपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के लिए कविता को अनुकूल स्वरावलि, किसी या किन्हीं रागों अथवा उनके मिश्र रूप में निबद्ध किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में कविता संक्षिप्त रहती है, किन्तु सुगम संगीत में काव्य अंश विस्तृत रहता है। शास्त्रीय संगीत में जहां केवल स्थायी और एक अंतरा रहता है, वहां सुगम संगीत के प्रकारों में अनेक अंतरे रहते हैं। कभी-कभी छोटा-मोटा आलाप या तान का टुकड़ा गीत में जुड़ा हुआ रहता है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से विस्तृत आलाप-तान के लिए सुगम संगीत में कोई स्थान नहीं होता। सुगम संगीत में भजन, गीत, ग़ज़ल और कव्वाली आदि का समावेश होता है।

भजन

सूर, तुलसी, कबीर, नानक और मीरा आदि संतों की अमरवाणी को उपयुक्त स्वरावलि में निबद्ध रूप में प्रस्तुत करना भजन शैली के अन्तर्गत आता है। भजन प्रायः विभिन्न रागों पर आधारित रहते हैं। सूर-तुलसी

आदि के ग्रंथों में रचनाओं पर रागों के नाम भी दिए गए हैं। इसी प्रकार 'गुरुग्रंथ साहिब' में भी कौन-सी रचना किस राग में गायी जाए, इसका उल्लेख है। प्रायः अनेक गायक अपनी पसंद के रागों में बांधकर भजन गाते हैं। शास्त्रीय संगीत से अपरिचित श्रोता भी विभिन्न रागों का रसास्वादन भजन के माध्यम से अनायास कर पाते हैं। इसी उपाय से जनसाधारण में शास्त्रीय संगीत के प्रति अभिरुचि जगाने में पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को विशेष सफलता प्राप्त हुई थी। देश-भर में अनेक बार दौरा करके उन्होंने विभिन्न रागों पर आधारित भक्ति-गीत तथा रामचरित मानस की कथा द्वारा भक्ति आंदोलन की लहर चलायी थी।

कभी-कभी भजन पूरी तरह शास्त्रीय रूप में अर्थात् विस्तृत आलाप-तान सहित गाये जाते हैं। भजन गायन के इस रूप को ख्याल शैली के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

ध्रुपद शैली पर आधारित भक्ति संगीत की परम्परा हवेली संगीत के नाम से अनेक वैष्णव मन्दिरों में आज भी प्रचलित है। आधुनिक काल के लोकप्रिय गायक कुमार गंधर्व शास्त्रीय, लोक शैली तथा कभी दोनों को मिलाकर भजनों को बहुत भाव-विभोर होकर गाते हैं। उच्चकोटि के ख्याल गायक होने के साथ ही स्वर्गीय पं० दत्तात्रेय पलुस्कर भजन गाने के लिए भी बहुत लोकप्रिय थे।

गीत

प्रणय, भक्ति, करुणा, उल्लास, देश-प्रेम और प्रकृति वर्णन आदि विविध विषयों का वर्णन गीतों में रहता है। हिन्दी के अनेक आधुनिक श्रेष्ठ कवियों की रचनाएं गीतों के रूप में लोकप्रिय हुई हैं। आकाशवाणी और दूरदर्शन तथा ग्रामोफोन रिकार्डों के माध्यम से गीतों का बहुत प्रचार हुआ है, विशेषतया फिल्मी गीत तो देश के कोने-कोने तक, गांव-गांव में पहुंच गये हैं। यहां तक कि लोक संगीत भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। आजकल गीतों के साथ लम्बे-चौड़े वाद्य-वृन्द का उपयोग करने का प्रचार हो गया है। कंठस्वर के स्थान पर वाद्य-वृन्द को अधिक महत्व देना इष्ट नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में कविता के मर्म को भलीभांति समझने वाला सहृदय कलाकार अनुकूल कंठ-स्वर, धुन और ताल के समन्वय से बिना किसी लम्बे-चौड़े ताम-झाम के न्यूनतम वाद्यों की सहायता से गीत गाकर कहीं अधिक असर पैदा

कर सकता हूँ। श्रीमती महादेवी वर्मा रचित एक गीत के कुछ अंश इस प्रकार हैं :—

तुम्हें बांध पाती सपने में।
तो चिर जीवन साध मिटा लेती उस छोटे क्षण अपने में।।
पावस घन-सी उमड़ बिखरती;
शरद निशा-सी नीरव घिरती।
धो लेती जग का विषाद
उमड़े लघु आंसू कण अपने में।।
सांसें कहतीं अमर कहानी;
पल-पल बनता अमिट निशानी।
प्रिय ! मैं लेती बांध मुक्ति
सौ-सौ लघुतम बन्धन अपने में।।

ग़ज़ल

पिछले कुछ वर्षों में सुगम संगीत की इस विधा ने अपूर्व लोक प्रियता प्राप्त कर ली है। मूल रूप से ग़ज़ल फारसी या उर्दू भाषा में थी, किन्तु आजकल तो हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि अनेक भाषाओं में ग़ज़ल रची जा रही है। इसके बावजूद यह मानना होगा कि उर्दू ग़ज़लों की बात कुछ और है। जो बात उर्दू ग़ज़ल में है, वह और किसी भाषा में सम्भव नहीं। ग़ज़ल का आरम्भ शृंगारिक विधा के रूप में हुआ था। आशिक, रकीब, शराब, मयखाना व साकी जैसे विषयों की ग़ज़लें हुआ करती थीं। सूफी प्रभाव से आध्यात्मिक तत्वों का समावेश भी कालांतर में ग़ज़ल में हुआ। आजकल शायद ही कोई ऐसा विषय होगा जिस पर ग़ज़ल न लिखी गयी हो।

शुरू-शुरू में ग़ज़ल शास्त्रीय संगीत के निकट थी। दरबारी, पीलू, देस, पहाड़ी, भैरवी आदि रागों का अधिक उपयोग ग़ज़ल के लिए होता था। संभवतः फिल्मी प्रभाव के कारण आज ग़ज़ल के रूप में बहुत अन्तर आ गया है। देश की आजादी के लिए बलिदान होने वाले अमर शहीद राम प्रसाद बिस्मिल के हृदय से स्फूर्त हजारों देशवासियों को बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी की प्रेरणा देने वाली ओजस्वी ग़ज़ल इस प्रकार है :

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना अब ज़ोर कितना बाज़ु-ए-क़ातिल में है।।
रहरवे राहे मुहब्बत रह न जाना राह में।
लज्ज़ते सहरानवर्दी दूरिए मंज़िल में है।।

वक्त आने दे बता देंगे तुझे ऐ आसमां ।
हम अभी से क्या बतायें क्या हमारे दिल में है ।।
अब न पहले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़ ।
एक मिट जाने की हसरत अब दिले 'बिस्मिल' में है ।।

कव्वाली

कव्वाली का आरंभ भी फ़ारसी और उर्दू में भक्तिगान के रूप में हुआ । एक या दो मुख्य गायकों के नेतृत्व में कव्वाली सहगान के रूप में ओजस्वी ढंग से गायी जाती है, किन्तु आजकल कव्वाली भक्ति संगीत तक ही मर्यादित नहीं है । किसी भी विषय की कव्वाली आज सुनी जा सकती है । शास्त्रीय रागों का प्रभाव भी ग़ज़ल की तरह कव्वाली में भी बहुत कम रह गया है । कव्वाली फिल्मों में भी बहुत लोकप्रिय हुई है ।

रवीन्द्र संगीत

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हजारों गीतों की रचना कर उन्हें धुन में बांधा जिन्हें हम रवीन्द्र संगीत के नाम से जानते हैं । ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, लोकगीत तथा पाश्चात्य संगीत इन सभी के आधार पर उनकी रचनाएं हैं । इसीलिए किसी शैली विशेष में रवीन्द्र संगीत का अंतर्भाव व्यक्त करना सम्भव नहीं है। भावपूर्ण ढंग से इन गीतों को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर देना ही कलाकार का काम है । अपनी ओर से आलाप-तान या मुर्की भी जोड़ने की अनुमति गायक को नहीं है । उदाहरणस्वरूप रवीन्द्र संगीत का एक गीत प्रस्तुत है :

जगते आनन्द यज्ञे, आमार निमंत्रण ।
धन्य होलो धन्य होलो मानव जीवन ।।
नयन आमार रूपेर पूरे
साध मिटाए बेड़ाय घूरे
श्रोबोन आमार गोभीर सूरे
होये छे मगन ।।
तोमार यज्ञे दियेछो भार
बाजाई आमि बाशी
गाने-गाने गेथे बेड़ाई प्राणेर कान्ना-हांसि ।।
एखोन समय होयेछे की
सभाय गिये तोमाय देखि
जयध्वनि सुनिये जाबो
ए मोर निबेदन ।।

लोकगीत

पहाड़ से फूटकर स्वच्छंद बहने वाले झरने की उपमा लोकगीत को दी जाती है। अलंकार, रस, छंद, राग और ताल आदि के जटिल नियमों से अपरिचित लोकगायक के हृदय की भावनाएं सरल, किन्तु आकर्षक धुन और लय में बंधे गीत के रूप में उसके कंठ से अनायास प्रस्फुटित होती है। पांव भी थिरक उठते हैं। इसलिए लोकगीत और लोक नृत्य को पूरी तरह अलग-अलग कर पाना सम्भव नहीं है। लोक धुनें नैसर्गिक हैं। उनमें अंतर्निहित रागों के ही विकसित और परिष्कृत रूप शास्त्रीय राग हैं। लोकगीतों की धुनों का विश्लेषण कर उनके आधार पर अनेक रागों की रचना हुई है। वास्तव में शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत में पारस्परिक आदान-प्रदान प्राचीन काल से होता आया है। देश के जिन भागों में शास्त्रीय संगीत का अधिक प्रचार है वहां का लोक संगीत भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोकगीत केवल सप्तकार्ध या चार स्वरों तक ही सीमित रहते हैं। अनेक ऐसे लोकगीत भी प्रचार में हैं, जिनमें तीन सप्तकों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार दादरा और कहरवा जैसे कम मात्राओं के तालों के अतिरिक्त दीपचंदी जैसे अधिक मात्राओं के तालों में बंधे अनेक लोकगीत सुनने में आते हैं। लोकगीतों की धुन, ताल और कविता इन सभी में प्रसाद गुण का विशेष महत्व है। ये गीत सीधे-सादे होते हुए भी आकर्षक, हृदयस्पर्शी होते हैं। भक्ति, शृंगार, करुणा तथा वीर आदि विविध भावनाओं को व्यक्त करने वाले लोकगीत प्रचार में हैं। लोकजीवन की सच्ची झांकी इनमें मिलती है। ग्रामवासियों की आशा-आकांक्षा, सुख-दुख, दैनंदिन कार्यकलाप, पर्व-त्यौहार, धार्मिक अनुष्ठान, विवाह, पुत्रजन्म, फसल की बुवाई-कटाई, सूर्योदय, सूर्यास्त, वर्षा, वसंत आदि ऋतुओं का मनोहर चित्रण लोकगीतों में रहता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों के अपने-अपने परम्परागत लोकगीत हैं जिनके रचनाकार अज्ञात हैं। महाराष्ट्र में पोवाड़ा और लावणी, गुजरात में गरबा और रास, उत्तर प्रदेश में चैती और आल्हा, राजस्थान में मांड और रसिया, बंगाल में भटियाली तथा बाउल जैसे सभी प्रदेशों में लोकगीतों के और भी अनेक प्रकार प्रचार में हैं। कुछ गीत ऐसे भी हैं जो एक प्रकार से सुगम शास्त्रीय संगीत और लोकगीत को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में हैं। सावन में गायी जाने वाली कजरी तथा वसंत में गायी जाने वाली

चैती को अनेक कलाकार ठुमरी या दादरा शैली में बोल-बनाव के साथ कुशलता से प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक काल में लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत के समन्वय का सफल प्रयास श्री कुमार गंधर्व ने किया है। मालवती तथा सहेली तोड़ी जैसे अनेक रागों की रचना उन्होंने लोक संगीत के आधार पर की है।

बुंदेलखंड में होली के अवसर पर गाये जाने वाले एक लोकगीत के बोल हैं :

केसर की उड़त फुहार कदम तरे ठाढ़े भीज रह्यो।
अरे कै मन केसर घोरियो और कै मन उड़त गुलाल।
अरे नौ मन केसर घोरियो और नौ मन उड़त गुलाल।
अरे कितते आई ग्वालन और कितते आए ग्वालबाल।
अरे पूरब ते आयी ग्वालन और पच्छम ते आये ग्वालबाल।
अरे कितते आयी राधिका और कितते आये घनश्याम ।
अरे पनघट ते आई राधिका और मधुबन ते आए घनश्याम ।।

वाद्यों का वर्गीकरण

प्राचीन काल से आज तक भारतीय संगीत में विविध प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता आया है। वाद्यों के मूल स्वरूप में समय-समय पर अनेक प्रकार के परिवर्तन और सुधार होते रहे हैं। प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित अनेक वाद्य आज लुप्त भी हो चुके हैं। वाद्य अनेक प्रकार के हैं। कुछ वाद्य स्वतंत्र रूप से बजाये जाते हैं। कुछ स्वरवाद्य गायन के अनुकरण या संगति के लिए उपयोग में आते हैं। ऐसे भी वाद्य हैं जिन पर कोई धुन नहीं बजाई जाती। उन पर निरन्तर मुख्य स्वर या स्वरों का वादन होता है। गायन या वादन की संगति के लिए अनेक प्रकार के ताल वाद्य हैं। हमारे शास्त्रकारों ने समस्त वाद्यों को चार भागों में बांटा है: तत, वितत अथवा अवनद्ध, घन और सुषिर।

तत :

सभी प्रकार के तारों वाले वाद्य (तार किसी धातु का अथवा तांत का भी हो सकता है) इस वर्ग में आते हैं। हाथ की उंगलियों तथा मिज़राब, जवा, कोण या गज़ की सहायता से तारों से अभीष्ट स्वरलहरी इस प्रकार के वाद्यों से उत्पन्न की जाती है। स्थूल रूप से प्राय: सभी प्रकार के तंतु-वाद्यों (तार वाले साजों) को वीणा परिवार के अन्तर्गत माना गया है। इस वर्ग के प्रमुख वाद्यों के बारे में जानकारी इस प्रकार है :

रुद्रवीणा

रुद्रवीणा को 'बीन' भी कहते हैं। हिन्दुस्तानी पद्धति में यह अत्यधिक प्रतिष्ठित है। इसके बजाने वाले 'बीनकार' कहलाते हैं तथा अपनी वंश परम्परा का आरम्भ तानसेन से मानते हैं। विलंबित लय में आलाप बजाने के लिए यह विशेष रूप से अनुकूल है। ध्रुपद-गायन की संगति के लिए भी इसका उपयोग पुराने जमाने में होता था, परन्तु आजकल यह स्वतन्त्र रूप से ही बजाई जाती है। इसकी ध्वनि गंभीर तथा मधुर होती

है। इसका डांड बांस का बना होता है । दोनों सिरों पर दो तूंबे रहते हैं। डांड पर पर्दे मोम से चिपकाये जाते हैं। इन्हें ऊपर नीचे नहीं खिसकाया जा सकता। डांड के निचले सिरे पर जवारी या घोड़ी रहती है। पेंदे पर जुड़े तार इस घोड़ी पर से गुजरते हैं । पांच तार बाईं तरफ लगी खूंटियों से तथा दो तार बीच में लगी खूंटियों से जुड़े रहते हैं। बायें हाथ की उंगलियां पर्दे पर रखकर दायें हाथ की पहली और बीच की उंगलियों में मिजराब पहनकर घोड़ी से थोड़ा ऊपर वह वाद्य बजाया जाता है। तीन और तारें रहती हैं जो केवल छेड़ी जाती हैं। इस वाद्य को सम्भालना भी आसान नहीं। बायां तूंबा कंधे पर सटाकर तथा दायां जमीन पर टिकाकर इसे बजाते हैं। इसके साथ पखावज पर संगति की जाती है । सम्भवतः बजाने में कष्टसाध्य तथा द्रुत लय में वादन के लिए उपयुक्त न होने के कारण ही इसका प्रचार बहुत कम हो गया है। उस्ताद वजीर खां, उस्ताद अल्लाबंदे खां, उस्ताद सादिक अली खां तथा उस्ताद डबीर खां के नाम दिवंगत बीनकारों में उल्लेखनीय हैं। वर्तमान समय में प्रमुख वादक हैं उस्ताद असद अली खां तथा जिया मोइनुद्दीन डागर।

विचित्र वीणा

इस वाद्य के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि पटियाला राजदरबार की एक गायिका ने अपने गाने की सारंगी पर संगति करते समय उस्ताद अब्दुल अजीज खां के लिए कुछ अपशब्दों का प्रयोग किया। विक्षुब्ध होकर उस्ताद ने सारंगी उठाकर फेंक दी। जीवन भर इस साज को हाथ न लगाने की कसम खाकर उन्होंने विचित्र वीणा को अपनाया। इस वाद्य का डांड लकड़ी का बना होता है। दोनों सिरों पर दो तूंबे रहते हैं, जिन्हें जमीन पर टिका दिया जाता है। बायें हाथ की उंगलियों के स्थान पर हाथ में पकड़े हुए कांच के गोल टुकड़े को तारों पर फिसलाकर इसे बजाया जाता है। सम्भवतः इसीलिए इसे बट्टा बीन भी कहते हैं। सारंगी छोड़कर इसे अपनाने वाले उस्ताद अब्दुल अजीज खां अप्रतिम कलाकार थे। उस्ताद अहमद रज़ा, पंडित गोपालकृष्ण तथा श्री रमेश प्रेम आजकल के वादकों में उल्लेखनीय हैं।

सितार, सुरबहार

आजकल तंतुवाद्यों में निर्विवाद रूप से सबसे अधिक प्रचलित वाद्य सितार है। भारत ही नहीं, भारत से बाहर विदेशों में भी इसने अपूर्व

लोकप्रियता प्राप्त की है। फ़ारसी में सेह का अर्थ तीन है। सेह+तार=सेहतार--इस नाम से प्रतीत होता है कि शुरू में इसमें तीन ही तार रहते थे। सम्भवतः यह प्राचीन त्रितंत्री वीणा का ही परिवर्तित रूप है। सितार के निचले भाग में तूंबा रहता है। यह लकड़ी की पट्टी से ढका रहता है, जिसे तबली कहते हैं। तबली पर घोड़ी या जवारी रहती है, जिस पर से होकर सात या आठ तार जाते हैं। उनमें से कुछ लोहे के तथा कुछ पीतल के होते हैं। डांड के ऊपरी सिरे पर खूंटियां होती हैं। सितार के तार खूंटियों से चलकर हड्डियों के बने तारगहन के छेदों में से गुजरते हैं। फिर एक हड्डी की बनी अटी के ऊपर से तथा नीचे तबली पर स्थित घोड़ी पर से गुजरते हुए तूंबे के अन्त में लगी कील में बांधे जाते हैं। डांड पर पीतल के 19 पर्दे बंधे रहते हैं, जो आवश्यकता के अनुसार, स्वरों को कोमल या तीव्र करने के लिए, ऊपर नीचे खिसकाये जाते हैं। घोड़ी के नीचे एक और छोटी घोड़ी से गुजरते हुए पार्श्व में लगी खूंटियों में जुड़े पर्दों के नीचे रहने वाले लगभग 13 तारों को तरब कहते हैं। बजाए जाने वाले राग के स्वरों में मिलाने पर यह मधुरता से गुंजित होते हैं। गूंज को और बढ़ाने के लिए कभी-कभी सितार के ऊपरी सिरे पर भी एक छोटा तूंबा लगवा लिया जाता है। विलम्बित लय में आलाप मध्य में जोड़ तथा द्रुत में झाला बजाने के बाद तबले की संगति के साथ विलंबित और द्रुत रचनाएं विस्तार (तान, तोड़े और झाले) सहित सितार पर बजाई जाती हैं। एकल वादन के लिए सितार विशेष उपयुक्त है, किन्तु सुगम संगीत की संगति के लिए, पार्श्व-संगीत तथा वृन्द-वादन के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। उस्ताद इमदाद खां, उस्ताद इनायत खां, गोस्वामी पन्नालाल तथा निखिल बनर्जी श्रेष्ठ सितारवादकों में थे। आधुनिक काल में कुछ प्रमुख कलाकार हैं--पं० रविशंकर, उस्ताद विलायत खां, पंडित बलराम पाठक तथा श्री उमाशंकर मिश्र। सितार से ही मिलता-जुलता वाद्य सुरबहार है। यह आकार में सितार से बहुत बड़ा होता है। इसका डांड विशेष रूप से चौड़ा होता है। इसीलिए एक ही पर्दे पर तार को खींचकर अधिक-से-अधिक स्वर इस वाद्य पर कुशलता से बजाये जा सकते हैं। विलंबित लय में आलाप बजाने के लिए यह विशेष रूप से अनुकूल है। द्रुत लय के लिए उपयुक्त न होने के कारण तथा बजाने में अपेक्षाकृत कठिन होने के कारण इसका प्रचार बहुत कम है।

सरोद

आजकल के लोकप्रिय वाद्यों में सरोद का भी प्रमुख स्थान है। कहा जाता है कि 'स्वरोदय' शब्द का अपभ्रंश सरोद है। मध्यकालीन रबाब तथा सरोद में बहुत साम्य है। खोखली की हुई लकड़ी का निचला भाग चमड़े से मढ़ा रहता है। इसी पर घोड़ी रहती है। मेरु से बंधे तार इस घोड़ी पर से होकर ऊपर के भाग में स्थिर खूंटियों से जुड़े रहते हैं। ऊपर का भाग लोहे की पट्टी से ढका रहता है। आठ तारों के अतिरिक्त सितार की तरह तरब के तार भी रहते हैं। पर्दे न रहने के कारण बजाना कठिन है, किन्तु इसी कारण स्वर के सूक्ष्मतम दर्जे इसमें कुशलता से बजाये जा सकते हैं। कठिन होने के कारण ही इसे सीखने और बजाने वालों की संख्या अधिक नहीं है। एकल वादन के अतिरिक्त वृन्दवादन तथा पार्श्व संगीत के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। उस्ताद हाफिज अली खां, उस्ताद अलाउद्दीन खां तथा श्री राधिका मोहन मैत्रा इस वाद्य के श्रेष्ठ कलाकारों में थे। वर्तमान काल के सरोदवादकों में उस्ताद अली अकबर खां, श्रीमती शरणरानी बाकलीवाल, उस्ताद अमजद अली खां तथा बुद्धदेव दासगुप्ता के नाम उल्लेखनीय हैं।

संतूर-स्वरमंडल

संतूर कश्मीर का एक लोकवाद्य है। कुछ समय से ही इसका अन्तर्भाव शास्त्रीय संगीत में हुआ है, जिसका मुख्य श्रेय जम्मू के तरुण कलाकार पंडित शिवकुमार शर्मा को है। इस वाद्य में सौ तार रहने के कारण इसे प्राचीन शततंत्री वीणा का विकसित रूप कुछ विद्वानों ने माना है। आजकल इसके सुधरे हुए रूप के कारण तारों की संख्या में और भी वृद्धि हो गई है। वास्तव में यह लकड़ी की बनी मंजूषा है जिसमें प्रत्येक स्वर के लिए कई-कई तार रहते हैं। लकड़ी की बनी छोटी छड़ियों से इन तारों पर प्रहार किया जाता है। तारों की संख्या इतनी अधिक होने के कारण इसे मिलाना कठिन है। इसकी ध्वनि अत्यन्त मधुर है। मींड आदि गमक प्रयोग के लिए यह उपयुक्त नहीं है। पार्श्व संगीत के लिए फिल्मों में इसका उपयोग किया जाता है। इससे मिलता-जुलता एक अन्य वाद्य स्वर-मंडल है जो आकार में संतूर से बहुत छोटा होता है। तारों की संख्या कम रहती है। स्वतंत्र वाद्य के रूप में इसका प्रचलन नहीं है। अनेक गायक राग के स्वरों में मिलाकर बीच-बीच में इसे उंगलियों से छेड़ते

हैं। राग के वातावरण को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने में इसका उपयोग सहायक होता है।

सारंगी

कुछ तंतुवाद्य गज से बजाये जाते हैं। इनमें सबसे प्रमुख सारंगी है। मनुष्य के कण्ठ स्वर से सबसे अधिक मिलता-जुलता होने के कारण गायन की संगति के लिए इसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कई लोगों का कहना है कि सौ रंग वाली होने के कारण इसे सौरंगी कहा गया और यही शब्द बाद में बिगड़कर सारंगी हो गया। लकड़ी के टुकड़े का खोखला निचला भाग चमड़े से मढ़ा जाता है। ऊपर की तरफ इसका आकार क्रमशः संकरा होता जाता है। नीचे चमड़े से ढके भाग में घोड़ी रहती है। तीन तांत के तथा एक पीतल का तार इस पर से गुजरते हुए ऊपर के सिरे पर लगी खूंटियों से जुड़े रहते हैं। 18 तार तरब के होते हैं। गज को दायीं मुट्ठी में पकड़कर घोड़ी से जरा ऊपर तार पर फिराते हैं तथा बायीं उंगलियों के नखों को तार से सटाकर इसका वादन करते हैं। शुरू-शुरू में रियाज करने वालों के नखों से खून रिसने लगता है। पर्दे न रहने के कारण अच्छे स्वर-ज्ञान वाले व्यक्ति ही इसे कुशलता से बजा सकते हैं। कुछ परिवर्तित स्वरूप में सारंगी लोकसंगीत में भी प्रचलित है। दीर्घकाल तक प्रशिक्षण तथा रियाज के बाद ही इसके वादन में प्रवीणता प्राप्त हो सकती है। कठिन होने के कारण इसकी लोकप्रियता कम होती जा रही है। दिवंगत सारंगीवादकों में उस्ताद बुंदू खां, पं० गोपाल मिश्र व उस्ताद गुलाम साबरी खां, तथा वर्तमान कलाकारों में पं० राम नारायण तथा उस्ताद सगीरुद्दीन के नाम उल्लेखनीय हैं।

दिलरुबा, इसराज, रावणहत्था

गज से बजने वाले दो और वाद्य हैं—दिलरुबा और इसराज। महाराष्ट्र में दिलरुबा तथा बंगाल में इसराज का प्रचार अधिक है। दोनों बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इनमें मुख्य अंतर यह है कि इसराज का निचला भाग छोटा तथा कुछ गोलाई लिये होता है, जबकि दिलरुबा में यह कुछ बड़ा तथा चौकोर-सा रहता है। लकड़ी को खोखला कर बनाये गये इन वाद्यों का निचला भाग चमड़े से ढका रहता है। इसी पर घोड़ी स्थित रहती है। डांड पर सितार की तरह पीतल के पर्दे बंधे रहते हैं। पर्दों के कारण इन्हें बजाना सरल है। सितार की तरह इनमें भी तरब के तार रहते हैं। बायें हाथ की उंगलियों को पर्दों पर रखकर दायें हाथ से नीचे की तरफ

घोड़ी से जरा ऊपर सारंगी की तरफ गज फिराया जाता है। घोड़ी के पास ग्रामोफोन का साउंड बॉक्स लगाने से इसका गुंजन बढ़ जाता है और इसकी ध्वनि कुछ शहनाई जैसी हो जाती है। इसीलिए इसे तार शहनाई कहा जाता है। एकलवादन, साथसंगत, वृन्द–वादन तथा पार्श्व संगीत के लिए इन वाद्यों का उपयोग होता है। दिलरुबा या इसराज वाद्य आजकल बहुत कम सुनने में आते हैं, किन्तु तार शहनाई के रूप में यह फिर से लोकप्रियता प्राप्त कर रहे हैं।

गज से बजने वाला एक लोकवाद्य रावणहत्था है, जिसका राजस्थान में विशेष प्रचार है। इसमें घोड़ी नीचे न रहकर ऊपर की तरफ होती है इसीलिए गज घोड़ी से जरा नीचे, ऊपर की तरफ तार पर फिराया जाता है। नीचे की तरफ उंगलियों से तारों को दबाया जाता है। गज में बंधे घुंघरू ताल और लय को सुन्दरता से दिखाते हैं। कहा जाता है कि पश्चिमी वाद्य वायलिन का यह पूर्व रूप है।

वायलिन

वायलिन या बेला यूरोपीय वाद्य है जो भारतीय संगीत के सूक्ष्मतम नादों को बजाने में सक्षम है। एकलवादन के अतिरिक्त गायन की संगति, पार्श्व संगीत तथा वृन्दवादन—सभी के लिए इसे अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई है। यों तो हारमोनियम वायलिन से भी ज्यादा लोकप्रिय है, किन्तु भारतीय संगीत के सच्चे स्वर उसमें न रहने के कारण शास्त्रीय संगीत के लिए उसकी उपयोगिता मर्यादित रह जाती है। विभिन्न रागों में विभिन्न श्रुतियों पर स्थित नाद के सूक्ष्म भेद इस वाद्य में बजाये जा सकते हैं। इसकी ध्वनि मधुर तथा रंजक होती है।

वायलिन का मुख्य भाग लकड़ी का तथा भीतर से खोखला होता है। एक पट्टी होती है जिसे फिंगरबोर्ड कहते हैं। सारंगी आदि भारतीय वाद्यों से इसमें मुख्य अंतर यह है कि इसमें घोड़ी ऊपर की तरफ रहती है। जिससे कुछ नीचे तारों पर दायें हाथ से गज पकड़कर फिराया जाता है। बायें हाथ की उंगलियों से फिंगरबोर्ड पर तारों को दबाकर अभीष्ट स्वर बजाये जाते हैं। पर्दे न रहने के कारण बजाना मुश्किल होता है, किन्तु इसी कारण स्वरों के सभी दर्जे इस वाद्य पर बजाये जा सकते हैं। स्वर्गीय पं० धुंढिराज पलुस्कर, प्रो० वी० जी० जोग, श्री एम० एस० गोपालकृष्ण तथा डा० (श्रीमती) एन० राजम् इस वाद्य के प्रमुख वादकों में उल्लेखनीय हैं।

तंबूरा

तंबूरा एक विलक्षण भारतीय वाद्य है। इसके चार तारों में पहला मंद्र पंचम या जिस राग में पंचम न हो, उसमें मंद्र मध्यम में मिलाया जाता है। बीच के दोनों तार जोड़ी के तार कहलाते हैं, जिन्हें मध्य षड्ज में मिलाया जाता है। ये तीनों तार लोहे के होते हैं। अंतिम तार पीतल या तांबे का होता है, जिसे मंद्र षड्ज में मिलाया जाता है। इन चार तारों का निरंतर गुंजित होना गायन या वादन की संगति के लिए आवश्यक माना जाता है। मंच पर गायन के समय संगति के लिए गायक सारंगी आदि कोई अन्य स्वरवाद्य भी लेते हैं। किन्तु अभ्यास अथवा प्रशिक्षण के समय केवल तंबूरे का ही उपयोग उचित माना गया है। सूक्ष्मतम स्वर ज्ञान के लिए तंबूरे का आधार आवश्यक है।

तंबूरे में बजने वाले प्रत्येक तार से उद्भूत स्वर के साथ ही उसके दुगुने से लेकर नौगुने तक सूक्ष्म नाद अंतर्निहित रहते हैं। तंबूरे की रचना बड़े सितार से मिलती-जुलती है। मुख्य अंतर है कि इसमें पर्दे नहीं होते। घोड़ी पर से गुजरने वाले चार तारों के नीचे बारीक रेशम या सूती डोरी धीरे-धीरे खिसका कर उस स्थान तक लायी जाती है जहां पर अधिकतम गुंजन प्राप्त हो। तंबूरे की ध्वनि गंभीर तथा मधुर होती है। गायक से कुछ पीछे दाहिनी तथा बाईं तरफ बैठकर दो वादक तंबूरे छेड़ते हैं। वादक भी एक या आवश्यकतानुसार एक से अधिक तंबूरे का उपयोग करते हैं। अधिक ऊंचे स्वर के लिए छोटे आकार के तथा पतली तार वाले तंबूरे का उपयोग होता है। लोक संगीत में कहीं-कहीं छोटे तंबूरे का उपयोग किया जाता है, जिसे तंबूरी कहते हैं। एकतारा और तुनतुना भी आधार स्वर गुंजित करने वाले लोक वाद्य हैं।

वितत वाद्य

चमड़े से मढ़े सभी ताल वाद्य वितत या अवनद्ध वाद्यों की श्रेणी में आते हैं। गायन और वादन की संगति के लिए इनका उपयोग किया जाता है। कभी-कभी इनका स्वतंत्र वादन भी होता है, जिसमें वादक 'ठेके' अर्थात् ताल के मुख्य बोलों को बजाकर उनका विस्तार करता है। सारंगी या हारमोनियम पर उसी ताल का लहरा बजाया जाता है।

पखावज

हिन्दुस्तानी संगीत में सबसे प्राचीन तथा प्रतिष्ठित तालवाद्य पखावज है। इसकी ध्वनि गंभीर तथा मधुर होती है। ध्रुपद-धमार के गायन के साथ तथा रुद्रवीणा और सरोद की संगति के लिए पखावज का उपयोग होता है। ध्रुपद-धमार की लोकप्रियता कम हो जाने के कारण इसका भी प्रचार बहुत

कम हो गया है। आजकल अधिकांश सरोद वादक संगति के लिए पखावज की जगह तबला लेना पसंद करते हैं।

पखावज शीशम या विजयसार की लकड़ी को खोखला कर बनाया गया बीच में से कुछ उठा हुआ वर्तुलाकार वाद्य है। इसका दाहिना पक्ष बायें पक्ष से कुछ छोटा होता है। ये दोनों पक्ष चमड़े से मढ़े रहते हैं। दाहिने पक्ष में स्याही लगी रहती है। बजाते समय बायें पक्ष में गूंधा हुआ आटा लगाया जाता है। चमड़े की डोरी दोनों पार्श्वों को जोड़ती है। इस डोरी के नीचे लकड़ी के गट्टे रहते हैं, जिन्हें इच्छित स्वर में मिलाने के लिए दायें-बायें खिसकाया जाता है। कर्नाटक संगीत में प्रचलित वाद्य मृदंगम् पखावज से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ढोलक, मादल, खोल और नाल दोनों ओर से बजने वाले अन्य वाद्य हैं, जिनका उपयोग प्रादेशिक लोक संगीत में किया जाता है। पूर्ववर्ती पखावज वादक कुदौसिंह, माधवसिंह तथा अंबादास थे। पं० पुरुषोत्तम दास, श्री छत्रपति सिंह तथा स्वामी पागलदास आधुनिक काल के कलाकार हैं।

तबला

ताल वाद्यों में तबला सबसे अधिक लोकप्रिय है। शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत तथा लोक संगीत, सभी में तबले का उपयोग किया जाता है।

इस वाद्य के दो भाग हैं––बायां या डग्गा तथा दायां या तबला। इसीलिए इसे तबला जोड़ी भी कहते हैं। ख्याल गायन की संगति के लिए आरंभ से ही तबले का उपयोग होता रहा है। गायन या किसी स्वरवाद्य की संगति के अतिरिक्त तबले का स्वतंत्र वादन भी बहुत पसंद किया जाता है। ताल वाद्यों के वृंदवादन में भी तबले का उपयोग किया जाता है।

तबले का बायां खोखला भाग मिट्टी का बना हुआ होता था जो ऊपर की तरफ अधिक चौड़ा रहता था। आजकल पीतल या तांबे आदि धातुओं से निर्मित डग्गे ही प्रचार में हैं। यह चमड़े से मढ़ा रहता है। जिस पर वृत्ताकार स्याही लगाई जाती है। तबला लकड़ी का बना होता है। यह नीचे की अपेक्षा ऊपर संकरा रहता है। यह भी चमड़े से ढका रहता है, जिसके बीच में वृत्ताकार स्याही लगायी जाती है। चमड़े की डोरी के नीचे लकड़ी के गट्टे रहते हैं, जिन्हें हथौड़ी से ठोक कर स्वर को ऊंचा-नीचा किया जा सकता है। तबले का आकार तथा विशेषकर मुंह जितना छोटा होता है, उतना ही अधिक ऊंचा उसे मिलाया जा सकता है। दिवंगत वादकों में कंठे महाराज और उस्ताद अहमदजान थिरकवा तथा आधुनिक वादकों में उस्ताद अल्ला रखा खां, पं० किशन महाराज, पं० सामता प्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

घन वाद्य

धातु, लकड़ी या मिट्टी से बने आघात द्वारा बजाए जाने वाले वाद्य घन वाद्य कहलाते हैं। कुछ घन वाद्य ऐसे हैं, जिनका ताल-वाद्यों के रूप में उपयोग होता है तथा कुछ ऐसे हैं, जिनका स्वर-वाद्यों के रूप में उपयोग किया जाता है। ताल-वाद्यों के रूप में प्रयुक्त होने वाले घन-वाद्य निम्न हैं :

मंजीरे की जोड़ी

पीतल या किसी अन्य धातु के बने वर्तुलाकार मंजीरों को आपस में टकराकर बजाया जाता है। भजन-कीर्तन में इनका उपयोग बहुत मधुर लगता है। दोनों मंजीरों को बजाते समय आवश्यकतानुसार कभी खुली, कभी बन्द, कभी जोरदार तथा कभी हल्की ध्वनि उत्पन्न की जाती है। मंजीरे षड्ज में मिले रहते हैं। कभी-कभी मध्यम या पंचम में मिले मंजीरों का भी उपयोग होता है।

घंटे, घंटियां, झांझ

सुर में मिले घंटे या घंटियों तथा झांझ का वादन भी भजन-कीर्तन को और भी प्रभावपूर्ण बना देता है। ये पीतल या कांस के बने होते हैं। लकड़ी के टुकड़े से प्रहार कर इन्हें बजाया जाता है।

जल-तरंग, काष्ठ-तरंग

घनवाद्यों की श्रेणी में आने वाले स्वर वाद्यों में जल-तरंग तथा काष्ठ-तरंग प्रमुख हैं। चीनी मिट्टी के बने क्रमशः बड़े से छोटे प्यालों में विभिन्न स्वरों में मिलाने के लिए कम या अधिक पानी भरा जाता है। बेंत या लकड़ी के टुकड़ों से इन प्यालों पर प्रहार कर धुन बजाई जाती है। आघात के कारण प्यालों में रहने वाला पानी आंदोलित होता है। इसकी ध्वनि बहुत मधुर होती है।

काष्ठ-तरंग में क्रम से बड़े से छोटे होने वाले लकड़ी के टुकड़ों को डोरी से बांधकर एक सांचे में पक्का कर दिया जाता है। जल-तरंग की तरह लकड़ी की दो छड़ियों से इन पर प्रहार कर स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। किसी-किसी प्रदेश में लकड़ी के स्थान पर बांस के टुकड़ों का उपयोग किया जाता है।

सुषिर वाद्य

वायु से बजने वाले सभी वाद्य सुषिर वाद्यों में गिने जाते हैं। सुषिर वाद्यों में सबसे प्राचीन तथा महत्वपूर्ण हैं :

बांसुरी

बांसुरी बांस की बनी होती है। इसमें प्रायः छह और कभी-कभी सात या आठ छेद रहते हैं। बांसुरी मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है—सीधी और

आड़ी। सीधी बांसुरी में एक छोर पर एक पत्ती लगी रहती है। आड़ी बांसुरी का ऊपर वाला छोर बंद रहता है। उसी किनारे से एक गोल छेद से फूंक मारकर बांसुरी बजायी जाती है। बांसुरी के छेदों को कम या अधिक बंद कर विभिन्न स्वरांतर बजाए जा सकते हैं। आड़ी बांसुरी पर शास्त्रीय, सुगम तथा लोक संगीत के सभी प्रकार कुशलतापूर्वक बजाए जा सकते हैं। पाश्चात्य देशों में धातु या प्लास्टिक की बनी बांसुरी प्रचार में है। उन पर पर्दे भी लगे रहते हैं, जिससे उनका बजाना सरल रहता है। किन्तु भारतीय संगीत के सूक्ष्म स्वरांतर तथा गमक उन पर बजानी संभव नहीं है। बांस की बांसुरी का माधुर्य भी उनमें नहीं है। लोक संगीत में बांसुरी का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रायः सीधी बांसुरी का उपयोग होता है। अलगोजा नामक जुड़ी हुई दो बांसुरी भी लोक संगीत में प्रचलित है।

बांसुरी को शास्त्रीय संगीत में स्थान दिलाने का श्रेय पन्नालाल घोष को है। शास्त्रीय संगीत के उपयुक्त बहुत बड़े आकार की बांसुरी का उपयोग उन्होंने ही आरम्भ किया। ख्याल और ठुमरी आदि शैलियों पर आधारित उनका बांसुरी वादन अप्रतिम था। आजकल के बांसुरी वादकों में श्री हरिप्रसाद चौरसिया, श्री देवेन्द्र मुर्देश्वर, श्री रघुनाथ सेठ तथा श्री प्रकाश सक्सेना के नाम उल्लेखनीय हैं।

शहनाई

शहनाई को हमारे देश में मंगलवाद्य माना गया है। धार्मिक उत्सवों, पर्वों तथा विवाह, पुत्रजन्म आदि मांगलिक अवसरों पर शहनाई वादन बहुत पुराने समय से प्रचलित है। यह भी एक पत्ती वाला सुषिर वाद्य है। इसकी आवाज मधुर तथा बड़ी होती है, अतः यह बिना माइक के भी दूर-दूर तक सुनी जा सकती है। शास्त्रीय संगीत के लिए इसका उपयोग आरम्भ करने वाले प्रमुख शहनाई वादकों में उस्ताद बिस्मिल्ला खां का नाम उल्लेखनीय है। ख्याल, ठुमरी, लोकशैली की चैती, कजरी, पूर्वी धुन आदि को भी कुशल कलाकार आकर्षक रूप में प्रस्तुत करते हैं। मुख्य कलाकार के साथ कुछ सहायक कलाकार रहते हैं जो प्रायः आधार स्वर षड्ज को निरंतर बजाते हैं। तबले की जगह तालवाद्य के रूप में संगति के लिए मिट्टी की बनी चमड़े से आच्छादित ताशे की जोड़ी रहती है जो लकड़ी की छड़ियों से बजाई जाती है। आजकल तबले का उपयोग भी कोई-कोई कलाकार पसंद करते हैं। शहनाई से मिलता-जुलता, आकार में कुछ छोटा वाद्य महाराष्ट्र में प्रचलित है, जिसे सुंदरी कहते हैं। दक्षिण भारत में इसकी तरह और इससे भी बड़े आकार वाला वाद्य नादस्वरम्

है। उस्ताद बिस्मिल्ला खां के अतिरिक्त अन्य प्रमुख शहनाई वादकों में उस्ताद अमीर अली, श्री अनंत लाल तथा श्री जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है।

हारमोनियम

यूरोप से आया यह सुषिर वाद्य भारत के कोने-कोने में संगीत के शास्त्रीय, सुगम शास्त्रीय, सुगम तथा लोक सभी प्रकारों में लोकप्रिय है। इसे ही बाजा या बाजे की पेटी कहते हैं। बायें हाथ से धौंकनी चलाने पर हवा, पीतल की पत्तियों पर टकराती है। दायें हाथ की उंगली से जिस पर्दे को दबाया जाता है, उसकी आवाज सुनायी देती है। इस वाद्य में मिलाने का झंझट नहीं होता। प्रायः इसमें तीन सप्तक रहते हैं। सप्तक में शुद्ध विकृत मिलाकर 12 स्वर रहते हैं, जो एक-दूसरे से समान अंतर पर स्थित हैं, अतः अधिकांश स्वर किंचित बेसुरे रहते हैं। निरंतर व अखंडित रूप से किसी स्वर को बजाना इस वाद्य में ही संभव है। इसकी न्यूनताओं के होते हुए संभवतः इसी कारण शास्त्रीय संगीत वाले भी इसका उपयोग करते हैं। बजाने में यह बहुत ही सरल है। यह वाद्य यूरोप से आया, किंतु अब पूरी तरह भारतीय हो गया है। स्वर्गीय भैया गणपतराव, श्री ज्ञान प्रकाश घोष, श्री अप्पा जलगांवकर तथा श्री गोविन्दराव पटवर्धन की गणना उच्चकोटि के हारमोनियमवादकों में की जाती है।

संगीत के विविध आयाम

संगीत और नाटक

अन्य विधाओं के सहायक रूप में भी संगीत के अनेक आयाम हैं। संगीत का सबसे अधिक प्रामाणिक आधार ग्रंथ भरत का 'नाट्यशास्त्र' है, जिसमें संगीत का वर्णन नाट्यकला के संदर्भ में हुआ है। नाटक में संगीत का प्रयोग अनेक प्रकार से होता आया है। संगीतिका या ऑपेरा पूर्णतया संगीतमय होते हैं। सूत्रधार या अन्य किसी विशिष्ट पात्र द्वारा कथा-प्रसंग गीत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सभी पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप भी पद्यबद्ध होता है, जो अनुकूल स्वर-राग-ताल में बंधे होते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी नाटक हैं, जिनमें गद्य का अंश बहुत ही कम रहता है। विशेषतया महाराष्ट्र में ऐसे नाटक लोकप्रिय हैं। महाराष्ट्र के मूर्धन्य शास्त्रीय संगीतज्ञ, निर्देशक और गायक इन नाटकों में पात्र के रूप में प्रमुख रूप से भाग लेते रहे हैं। स्वर्गीय पं० भास्करराव बखले, पं० विनायक राव पटवर्धन, मास्टर दीनानाथ, मास्टर कृष्णराव फुलंब्रीकर, श्रीमती हीराबाई बड़ौदकर, श्रीमती ज्योत्स्ना भोले आदि प्रसिद्ध कलाकार समय-समय पर नाटक के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। लोकमान्य तिलक द्वारा दी गयी पदवी बाल गंधर्व के ही नाम से प्रसिद्ध स्वर्गीय नारायण राव राजहंस गायन और अभिनय में से किसके लिए अधिक लोकप्रिय थे, यह कहना कठिन है। इन लोकप्रिय गायक-अभिनेताओं द्वारा शास्त्रीय संगीत पर आधारित नाट्य संगीत छोटे-छोटे गांवों में भी घर-घर पहुंच गया था। महाराष्ट्र में शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता का बड़ा कारण यही रहा है।

पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० नारायण प्रसाद बेताब तथा आगा हश्र कश्मीरी के हिंदी-उर्दू नाटक भी संगीत प्रधान थे।

ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, ग़ज़ल, लोकसंगीत, इन सभी प्रकारों पर आधारित संगीत का उपयोग नाटकों में होता आया है।

गायन-वादन के साथ ही नृत्य का उपयोग होने के कारण नृत्यनाटिकाएं विशेष रूप से आकर्षक और लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ने अनेक नृत्यनाटिकाओं की रचना करते हुए उनके संगीत-नृत्य का निर्देशन भी किया। 'चांडालिका' तथा 'ताशेर देश' उनकी लोकप्रिय नृत्य नाटिकाएं हैं। सुप्रसिद्ध नर्तक उदय शंकर का भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रामलीला तथा गौतम बुद्ध पर आधारित नृत्य-नाटिका उनकी अनेक सफल कृतियों में से है।

लोकनाट्य की तो संगीत के अभाव में कल्पना भी नहीं की जा सकती। उत्तर प्रदेश तथा अन्य हिन्दी भाषी प्रदेशों के गांव-गांव में परंपरागत रूप से खेली जाने वाली रामलीला तथा नौटंकी, पंजाब में हीर-रांझा, बंगाल में जात्रा, महाराष्ट्र में तमाशा लोकनाट्य के ही रूप हैं। लोकविधाओं में गीत को नृत्य से पृथक् करके देखना संभव नहीं है। लोककलाकार नाचते-नाचते गाने लगते हैं, गाते-गाते झूमकर नाच उठते हैं।

गद्य नाटक में संगीत का उपयोग प्रत्यक्ष मंच पर नहीं होता, किंतु पार्श्व संगीत के उपयोग से इसके प्रभाव में कई गुना वृद्धि हो जाती है। कथा-प्रसंग के अनुसार एकल या वृन्द-गान अथवा एकल या वृन्द वादन अनुकूल वातावरण की सृष्टि में विशेष सहायक होता है।

संगीत और सिनेमा

भारतीय सिनेमा में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। मूक चित्रपटों के जमाने में तो मंच के पास बैठा हुआ ऑर्गन या हारमोनियम वादक तबले की संगति के साथ पर्दे पर घटने वाली घटनाओं के अनुकूल धुनें बजाता रहता था। किन्तु सवाक् चित्रपट होने के बाद तो फिल्मों पर संगीत पूरी तरह हावी हो गया है। पहले जमाने में तो नायक और नायिका के चुनाव के समय स्वरूप, सौंदर्य तथा अभिनय कौशल के साथ ही मधुर कंठ स्वर का भी ध्यान रखा जाता था। किंतु अब प्लेबैक की सुविधा के बाद ऐसा नहीं रहा। अभिनयकुशल अभिनेता यदि गाना न जानता हो तो वह केवल होंठ हिलाता है और उसकी जगह सचमुच गाने वाला कोई अन्य होता है। आम जनता के मनोरंजन को ध्यान में रखकर अधिक-से-अधिक गीत और नृत्य भरे रहते हैं। वास्तव में संगीत का संतुलित उपयोग ही फिल्मों में किया जाना उचित है। कहानी तथा प्रसंग के परिवेश को ध्यान में रखकर शास्त्रीय, सुगम अथवा लोक संगीत का उपयोग फिल्मों में किया जाना चाहिए।

सिनेमा को मनोरंजन का साधन मात्र मानना उचित नहीं है। लोकशिक्षण तथा जनरुचि का परिष्कार भी सिनेमा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। जन-जन तक अच्छा संगीत पहुंचाने का महत्वपूर्ण माध्यम सिनेमा है।

संगीत और कविता

संगीत और कविता, ये दोनों अलग-अलग कलाएं हैं, किन्तु इनमें गहरा अन्तर्सम्बन्ध है। गायन के प्रायः सभी प्रकारों में न्यूनाधिक रूप से कविता अवश्य रहती है। शास्त्रीय संगीत में केवल तराना या त्रिवट ही ऐसे प्रकार हैं, जिनमें कविता का सर्वथा अभाव रहता है। यह अवश्य है कि शास्त्रीय संगीत में नाद और लय के प्रस्तार की तुलना में शब्दों का महत्व बहुत कम होने के कारण काव्य भाग बहुत संक्षिप्त रहता है। सुगम शास्त्रीय संगीत अर्थात् ठुमरी-दादरा आदि में कविता का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। विस्तृत स्वर प्रस्तार के स्थान पर कविता के बोलों को ही बार-बार अलग-अलग ढंग से आकर्षक, भावपूर्ण स्वरावलि में पिरो कर कहा जाना इस शैली की प्रमुख विशेषता है। सुगम संगीत अर्थात् भजन, गीत, ग़ज़ल को तो वास्तव में काव्य-कला के अन्तर्गत ही मानना उचित है, क्योंकि ये सब शब्द-प्रधान प्रकार हैं।

अनुकूल स्वर संयोग तथा ताल के संयोग से काव्य के आकर्षण और प्रभाव में कई गुना वृद्धि हो जाती है। काव्यांतर्गत गीत विधा की अधिक लोकप्रियता का कारण उसका गेय होना ही है।

स्पष्ट है कि ये दोनों कलाएं अनेक अंशों में अन्योन्याश्रित तथा एक-दूसरे की पूरक हैं।

संगीत और चित्रकला

ललित कलाओं में संगीत की भांति चित्रकला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों का ही उद्देश्य रस-सृष्टि है, पर इनमें अन्तर है माध्यम का। संगीत में भावाभिव्यक्ति का मुख्य उपादान नाद और लय है तथा चित्रकला में रंग और रेखा। संगीत श्रव्य कला है तथा चित्रकला दृष्टि का विषय। संगीत में सात स्वर हैं। इसी प्रकार चित्रकला में भी सात रंग हैं। पुराने ग्रंथों में सात स्वरों के रंगों का भी वर्णन है। प्राचीन काल में राग-रागिनियों को गणित के आधार पर निर्मित स्वरों का ढांचा मात्र न मानकर उनके सजीव रूप की कल्पना की गयी थी। उदाहरण के लिए, दामोदर पंडित द्वारा अंकित भैरवी का ध्यान रूप कितना मनमोहक है? उनके मतानुसार, भैरवी भैरव (महादेव) की पत्नी हैं। रम्य कैलाश शिखर पर स्फटिक की चौकी पर बैठी कमल की पंखुड़ियों से वह महेश की पूजा कर रही हैं। उनके हाथ में डमरू है। निराहार रहकर घोर तपस्या के कारण बड़ी आंखों वाली पार्वती का रंग पीला पड़ गया है।

भैरवी के इस स्वरूप को ध्यान में रखकर गाने वाले कलाकार की तुलना उस व्यक्ति से नहीं की जा सकती जिसे भैरवी के केवल व्याकरण सम्मत तथा

गणितसिद्ध रूप का ही तथाकथित ज्ञान हो कि भैरवी किस ठाट से निकली है, कौन से स्वर लगते हैं, कौन वादी-संवादी है, क्या आरोह-अवरोह है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि व्याकरण का ज्ञान छात्र को न कराया जाए। कहने का तात्पर्य है कि इसके साथ ही राग का भाव पक्ष भी मूर्त रूप से कलाकार के मन में अंकित होने पर ही उसकी कला पूरी तरह सफल होगी। अन्य अनेक राग-रागिनियों का वर्णन अपने ग्रंथ 'राग दर्पण' में दामोदर पंडित ने किया है। कुशल चित्रकारों ने रंगों और रेखाओं के माध्यम से इन्हें मूर्त रूप दिया जो 'राग माला' के नाम से विख्यात है। अनेक आधुनिक चित्रकारों ने भी, किसी राग का मन पर कैसा प्रभाव पड़ा, उसके अनुसार सुन्दर चित्रों की रचना की। ऐसे भी अनेक कलाकार होंगे जो संगीत सुनकर सुन्दर चित्र बनाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

संगीत और चिकित्सा

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अनेक अंशों में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। शारीरिक व्याधि को दूर करने के लिए रोगी को औषधि दी जाती है, किन्तु यदि रोगी को किसी भी उपाय द्वारा मानसिक शान्ति प्राप्त हो तो, उसकी शारीरिक बीमारी को दूर करना निश्चय ही अधिक सरल होगा। मानसिक शान्ति की प्राप्ति के लिए संगीत से बढ़कर और कोई कला नहीं, अतः रोगियों के लिए संगीत सुनाने की सुविधा अनेक चिकित्सालयों में उपलब्ध कराई जाती है। मानसिक रोगों के उपचार के लिए तो संगीत निर्विवाद रूप से विशेष उपयोगी है। किसी बीमारी में कौन-सा संगीत-गायन या वादन अथवा राग उपयुक्त हो सकते हैं, यह अनुसंधान का विषय है। इस प्रकार के परीक्षण से अनेक रोचक तथ्य सामने आयेंगे तथा चिकित्सा के क्षेत्र में संगीत की अधिकाधिक उपयोगिता स्पष्ट होगी।

संगीत और शिक्षा

कुछ समय पूर्व शिक्षा के क्षेत्र में संगीत का कोई स्थान नहीं था। पढ़ाई में अच्छे रहने के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि बच्चे गाने-बजाने में समय नष्ट न करें। किन्तु आजकल तो प्राथमिक से लेकर उच्चतम डिग्री तक के लिए संगीत विषय का समावेश पाठ्यक्रम में किया जा चुका है, तथापि संगीत शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियां प्रचलित हैं, जिनका निवारण आवश्यक है। अनेक लोगों का आक्षेप है कि स्कूलों, कालेजों या संगीत की संस्थाओं में भी सीखकर छात्र सफल कलाकार नहीं बन पाते। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि संगीत-शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक संगीतकार पैदा

करना मात्र नहीं है। वास्तव में सैकड़ों-हजारों में से कोई विरला ही विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति विद्यादान के लिए तत्पर गुरू के निर्देशन व दीर्घ काल तक साधना के बाद ही सफल कलाकार बन सकता है। सभी संगीत सीखने वाले कलाकार बन सकें, यह न तो सम्भव है न अभीष्ट। स्वयं तानसेन भी दूसरे तानसेन का निर्माण नहीं कर पाये। संगीत-शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करने के लिए वनस्पति जगत का उदाहरण सहायक होगा। कुछ पेड़-पौधे ऐसे हैं, जिनकी हरियाली आंखों को भाती है, किन्तु उन पर कोई फूल या फल नहीं लगता। कुछ ऐसे हैं जिन पर रंग-बिरंगे फूल तो लगते हैं, किन्तु खाने योग्य फल नहीं। कुछ ऐसे भी वृक्ष हैं जिन पर हरियाली के साथ फूल भी आते हैं तथा जिनसे मधुर फल भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार संगीत-शिक्षा के भी स्थूल रूप से तीन स्तर हो सकते हैं:

(1) प्रबुद्ध श्रोता या संगीत रसिकों का निर्माण। न्यूनतम शिक्षण लेकर संगीत के आधारभूत तत्वों—नाद, लय, राग, ताल, स्वर प्रस्तार तथा ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी आदि गीत-प्रकार एवं प्रमुख वाद्यों की जानकारी यह वर्ग प्राप्त कर सके।

(2) ऐसे लोगों का प्रशिक्षण जो मंच पर व्यावसायिक कलाकार के रूप में न सही, पर शौकिया तौर पर यथावसर थोड़ा-बहुत गा-बजा सकें।

(3) विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न उन व्यक्तियों का प्रशिक्षण जो संगीत को आजीविका के लिए अपनाना चाहते हों।

शिक्षा संस्थाओं—स्कूल और कालेज आदि—में अन्य विषयों के साथ संगीत की थोड़ी-बहुत शिक्षा लेने वालों से यही अपेक्षा की जा सकती है कि वे उपर्युक्त पहले दो उद्देश्यों में सफलता प्राप्त कर सकें। वास्तव में व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए, जीवन के अभिन्न अंग के रूप में संगीत का अन्तर्भाव संगीत-शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य है। संगीत का आनन्द लेना—सुनकर या स्वयं गा-बजाकर कोई छोटी उपलब्धि नहीं है।

इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर अनेक देशों में प्राथमिक स्तर पर संगीत को अनिवार्य विषय के रूप में स्थान दिया गया है। बालकों के लिए संगीत शिक्षा अनौपचारिक ढंग से खेल-खेल के रूप में होनी चाहिए। आरम्भ में व्याकरण पक्ष का उसमें कोई स्थान नहीं होता। वास्तव में सांगीतिक गति-विधियों में भाग लेना ही उनके लिए पर्याप्त होगा। बच्चों के लिए, उपयुक्त गीत का भी चुनाव आयु तथा मनोविकास को ध्यान में रखकर करना चाहिए। उपदेशों से लदे हुए तथा 'झूठी माया, झूठी काया' जैसे घोर वैराग्य के

अथवा विरह वर्णन के गीत छोटी आयु के बच्चों के लिए अनुपयुक्त हैं। सूर्योदय, सूर्यास्त, चांदनी रात, नदी, पर्वत, वसंत ऋतु या वर्षा का वर्णन जिनमें हो; प्रकृति से तादात्म्य रखने वाले गीत वे अनायास सीख लेते हैं। गद्य के स्थान पर गीत के रूप में अन्य विषयों की शिक्षा भी सफलतापूर्वक दी जा सकती है। अनेक देशों में इस सम्बन्ध में सफल परीक्षण किये गये हैं। किसी भी भाषा को सिखाने का आरम्भ यदि उस भाषा के आकर्षक गीतों द्वारा किया जाए तो बच्चे प्रसन्नतापूर्वक अनायास ही सीख लेते हैं। भूगोल, इतिहास, गणित, विज्ञान आदि अनेक विषयों की शिक्षा भी संगीत के माध्यम से सफलतापूर्वक दी जा सकती है। हमारे देश में वेदों से लेकर रामायण, महाभारत, ज्योतिष आदि सभी विषयों के ग्रंथ छंदोबद्ध गेय रूप में होने का मुख्य कारण यही है।

प्रारम्भिक के बाद माध्यमिक स्तर पर संगीत की औपचारिक शिक्षा वैकल्पिक विषय के रूप में संगीत में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को दी जानी चाहिए। चुने हुए विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थियों के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए—जिससे वे भविष्य में संगीत के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकें। उन्हें संगीत की अच्छी संस्थाओं अथवा गुरुओं के पास संगीत सीखने के लिए भेजना उपयुक्त होगा, जिससे वे इसका सर्वांगीण अध्ययन कर सकें। माध्यमिक के बाद वे केवल संगीत या संगीत से सम्बद्ध विषयों की उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें, इसकी समुचित व्यवस्था विश्वविद्यालय में होनी चाहिए। छात्र की अभिरुचि तथा क्षमता देखकर उसका प्रशिक्षण विशेष पाठ्यक्रम के अनुसार होना चाहिए, जिससे वह कलाकार, शिक्षक, शास्त्र मर्मज्ञ, रचनाकार, निर्देशक या समीक्षक के रूप में सफलता प्राप्त कर सके। संगीत को आजीविका के लिए अंगीकार न करने वाले विद्यार्थी प्रबुद्ध श्रोता के रूप में इस कला का सच्चा आनन्द ले सकेंगे और शौकिया तौर पर थोड़ा-बहुत गा-बजा सकेंगे।

वृन्दगान

संगीत में रुचि रखने वाले तथा साधारणतया ठीक कंठस्वर वाले व्यक्ति स्वयं गाकर आत्मसंतोष प्राप्त कर सकें, इसके लिए वृन्दगान एक महत्त्वपूर्ण विधा है। साधारणतया स्कूलों और कालेजों में अन्य विषयों के साथ-साथ थोड़ी-बहुत संगीत-शिक्षा लेने वालों से यही अपेक्षा की जा सकती है कि महफिल के कलाकार के रूप में न सही, किंतु मिलकर गाने में वे अवश्य सफलता प्राप्त कर सकेंगे। गुरुओं, उस्तादों तथा संगीत संस्थाओं में सीखने वालों में भी विशिष्ट अपवाद छोड़कर अधिकांश इसी श्रेणी में आयेंगे।

यों तो हमारे देश में लोकगीतों के रूप में, मंदिरों में भजन-कीर्तन के रूप में, धार्मिक अनुष्ठानों में वेदमंत्र पाठ तथा स्तोत्रगान के रूप में समवेत गायन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। किंतु शास्त्रीय संगीत में संभवतः मध्यकाल से वृन्दगान की परम्परा लुप्तप्राय है। आजकल तो एकलगान या अधिक-से-अधिक जुगलबंदी ही सुनने में आती है। यह स्वीकार कर लेना उचित होगा कि मंच पर प्रस्तुत की जाने वाली सुविकसित विधा के रूप में वृन्दगान का बहुत समय से हमारे देश में प्रायः अभाव रहा है। पाश्चात्य देशों में वृन्दगान बहुत समृद्ध तथा विकसित हो चुका है। हर नगर में हर स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी, कंजरवेटॉयर (संगीत शिक्षण संस्था) के अपने गानवृन्द हैं। सरकारी गानवृन्द, रेडियो और टेलिविज़न के गानवृन्द उनके अतिरिक्त हैं। पंद्रह-बीस से लेकर हजारों व्यक्ति जब मिलकर गाते हैं, तो सुनते और देखते ही बनता है। मिलकर गाने की प्रथा का फिर से प्रचार करने का श्रेय पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर को है। महात्मा गांधी की प्रिय रामधुन 'रघुपति राघव राजा राम' का गायन न केवल वह स्वयं करते थे बल्कि हजारों को साथ गवाकर भक्ति-विभोर कर देते थे। स्वाधीनता संघर्ष के दौरान उनके छात्रों ने 'वन्देमातरम्' तथा 'भारत हमारा देश है' आदि देशभक्ति के सहगान गाकर राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने का कार्य किया। संभवतः बंबई के विक्टर परान ज्योति का 'परान ज्योति क्वायर' वृन्दगान के अग्रगामी प्रयासों में से है। इंडियन पीपल्स थियेटर के अनेक सहगान राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम दौर में बहुत लोकप्रिय हुए। शांति निकेतन में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की रचनाओं को समवेत रूप में गाने की परंपरा है। कुछ वर्षों से आकाशवाणी के अनेक केंद्रों पर वृन्दगान का आरंभ हुआ है। दिल्ली के गंधर्ववृन्द, मद्रास यूथ क्वायर, कलकत्ता यूथ क्वायर तथा बंबई के न्यू इंडिया क्वायर आदि का भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

मिलकर गाने की विधा के दो रूप हो सकते हैं:

(अ) ऐसे गीत जो सुनते-सुनते जबान पर चढ़ जाएं तथा जिन्हें थोड़ा-बहुत सीखकर या बिना सीखे भी सभी लोग उनमें अनायास भाग ले सकें। इस प्रकार को 'वृन्दगान' न कहकर 'सहगान' कहना उचित होगा।

(ब) ऐसी रचनाएं जिन्हें इस विधा में प्रशिक्षित व्यक्ति अनेक बार पूर्वाभ्यास के बाद प्रस्तुत करें। इन्हें 'वृन्दगान' कहा जा सकता है।

इस प्रकार के गीतों को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है:

(1) भारतीय रागदारी संगीत (हिंदुस्तानी अथवा कर्नाटक शैली) पर

आधारित रचनाएं—ध्रुपद, धमार, तराना, वर्णम् और कृति आदि। इन रचनाओं में पाश्चात्य वृन्दगान के स्वर-संवाद, प्रतिध्वनि, नाद की घनता में उतार-चढ़ाव आदि तत्वों का मर्यादित उपयोग भारतीय संगीत के आधारभूत तत्व राग और ताल आदि को सुरक्षित रखते हुए किया जाना चाहिए।

(2) भक्ति संगीत—वेदमंत्र पाठ, स्तोत्रगायन, कीर्तन, तुलसी-मीरा-कबीर-त्यागराज आदि संतों की वाणी।

(3) विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के लोकगीत अथवा लोकधुनों पर आधारित रचनाएं।

(4) कंठस्वर के विभिन्न आयामों पर आधारित काव्यहीन रचनाएं अथवा कविता का वृन्दगान की आधुनिकतम विधा से सम्बन्धित प्रयोगशील प्रस्तुतीकरण।

विभिन्न आयुवर्गों के मनोविकास को दृष्टि में रखकर उनके लिए उपयुक्त गीतों का चुनाव 'सहगान' या 'वृन्दगान' हेतु किया जाना चाहिए। बच्चे स्वाभाविक रूप से ही मिलकर गाना पसंद करते हैं। यदि धुन आकर्षक और सुगम हो तो वे किसी भी भाषा के गीत अनायास ही सीख लेते हैं। गीत का अर्थ समझा देना आवश्यक है, जिससे वे तोता-रटंत की तरह नहीं, बल्कि गीत के भावों का आनन्द लेकर गा सकें। सहगान में तो सभी भाग ले सकते हैं। बड़ी आयु के अनुकूल स्वर वाले प्रतिभासम्पन्न बच्चों को वृन्दगान का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। शिक्षा समाप्त होने पर आजीविका के लिए विभिन्न व्यवसायों में व्यस्त हो जाने पर भी थोड़ा-बहुत समय निकालकर 'वृन्दगान' में भाग लेने का आनन्द लेना अधिकांश के लिए संभव होगा। विभिन्न धर्मों एवं विचार-धाराओं के अनुयायियों तथा विभिन्न भाषाभाषियों में पारस्परिक सौहार्द का निर्माण वृन्दगान द्वारा सम्भव है। यही नहीं, नाद और लय के सार्वभौम और शाश्वत माध्यम के द्वारा समस्त विश्व की एक कुटुम्ब के रूप में कल्पना को भी मूर्त रूप संगीत (वृन्दगान) द्वारा ही दिया जा सकता है।

वृन्दवादन

शास्त्रों में वाद्यवृन्द के लिए कुतप शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वरवाद्यों तथा तालवाद्यों के अलग-अलग तथा सम्मिलित छोटे-बड़े वृन्दों का भी वर्णन है। आधुनिक काल में भारतीय वाद्यों के वृन्दवादन का श्रेय सुप्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर को है। नृत्य के साथ तथा स्वतंत्र रूप से वृन्दवादन का समावेश उनके कार्यक्रमों में रहता था। उस्ताद अलाउद्दीन खां का मैहर बैंड भी इस क्षेत्र के प्रारम्भिक प्रयासों में गिना जाना चाहिए। सवाक् चित्रपटों

में देशी-विदेशी वाद्यों के वृन्दों का विशेष उपयोग आरम्भ हुआ। आकाशवाणी द्वारा राष्ट्रीय वाद्यवृन्द के विकास की योजना बनाई गई। दिनकर राव एमल, रविशंकर, पन्नालाल घोष, अनिल विश्वास तथा एमनी शंकर शास्त्री के निर्देशन में रागों पर आधारित तथा कहानी अथवा प्रसंग विशेष पर आधारित (शकुंतला, गांव की गोरी आदि) रचनाएं प्रसारित की गईं।

तथापि इस विधा का विकास अभी भी बहुत अधिक नहीं हो पाया है।

थोड़ा-बहुत बजाना आने पर भी बहुत-से व्यक्तियों द्वारा मिलकर विविध वाद्यों को बजाने का आनन्द अनूठा है। शिक्षा संस्थाओं में इस प्रकार के आयोजन का बहुत महत्व है। इसीलिए वृन्दगायन और वृन्दवादन दोनों का समावेश शिक्षा के पाठ्यक्रम में होना अनेक दृष्टियों से अभीष्ट है।

MGIPF—607DPD/86—3000—6-10 87

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार